मदीयम्

हमारे देश के नवयुवकों में धर्म के प्रति अरुचि का जो भाव दिनों दिन बढ़ता जा रहा है उसका एक कारण अगर पाश्चात्य शिक्षा है तो दूसरा कारण धर्मोपदेशकों की उपेक्षा भी है। धर्मोपदेशक अकसर धर्म को सकीर्णता के कारागार में कैद कर रखते हैं और उसे परलोक के काम की चीज बताते हैं। वर्त्तमान जीवन में धर्म की क्या उपयोगिता है और किस प्रकार पद-पद पर धर्म का जीवन मे समावेश होना आवश्यक है, इसकी ओर उनका लक्ष्य शायद ही कभी जाता है। संक्षेप में कहा जाय तो आज धर्म 'व्यवहार' न रहकर 'सिद्धान्त' बन गया है!

संसार में आज समाजवाद की भावना बढ़ रही है और भारत भी उस भावना का अपवाद नहीं रहा है। धर्मोपदेशक जब एकान्ततः व्यक्तिवाद की ओर आकृष्ट होकर व्यक्तिगत अभ्युदय के ही साधन रूप में धर्म की व्याख्या करते हैं तब समाजवादी नवयुवक धर्म की ओर हिकारत भरी निगाह से देखने लगता है।

जीवन को ऊँचा उठाने के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप दो पंखों की आवश्यकता है। जिस पंखी का एक पंख उखड़ जायगा वह अगर अनन्त और असीम आकाश मे विचरण करने की इच्छा करेगा तो परिणाम एक ही होगा—अधःपतन। यही बात जीवन के संबंध में है। जीवन की उन्नति प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के विना साध्य नहीं है। एकान्त निवृत्ति निरी अकर्मण्यता है और एकान्त प्रवृत्ति चित्त की चपलता है। इसीलिए ज्ञानी पुरुषों ने कहा है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती व जाण चारित्तं।

अर्थात्—अशुभ से निवृत्त होना और शुभ में प्रवृत्ति करना ही सम्यक् चारित्र समझना चाहिए।

'चारित्तं खलु धम्मो' अर्थात् सम्यक् चारित्र ही धर्म है; इस कथन को सामने रख कर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप है। 'अहिंसा' निवृत्ति है पर उसकी साधना विश्वमैत्री और समभावना को जागृत करने रूप प्रवृत्ति से ही होती है। इसीसे अहिंसा व्यवहार्य वनती है। किन्तु हमें प्रायः जीवघात न करना सिखाया जाता है, पर जीवघात न करके उसके वदले करना क्या चाहिए, इस उपदेश की ओर उपेक्षा वताई जाती है।

आचार्य श्री जवाहरलालजी म० के व्याख्यानों में इन त्रुटियों की पूर्ति की गई है। उन्होंने धर्म को व्यवहार्य, सर्वांगीण और प्रवर्त्तक रूप देने की सफल चेष्टा की है। अपने प्रभावशाली प्रवचनों द्वारा उन्होंने शास्त्रों का जो नवनीत जनता के समक्ष रक्खा है, निस्संदेह उसमें जीवनी शक्ति है। उनके विचारों की

उदारता ऐसी ही है जैसे एक मार्मिक विद्वान् जैनाचार्य की होनी चाहिए।

आचार्य की वाणी में युगदर्शन की छाप है, समाज में फैले हुए अनेक धर्म सबधी मिथ्या विचारों का निराकरण है, फिर भी वे प्रमाणभूत शास्त्रो से इञ्च मात्र इधर-उधर नहीं होते। उनमें समन्वय करने की अद्भुत क्षमता है। वे प्रत्येक शब्दावली की आत्मा को पकड़ते और इतने गहरे जाकर चिन्तन करते हैं कि वहाँ गीता और जैनागम एकमेक से लगते हैं।

गृहस्थ जीवन को अत्यन्त विकृत देख कर कभी-कभी आचार्य तिल-मिला उठते हैं और कहते हैं—'मित्रो! जी चाहता है, लज्जा का पर्दा फाड़कर सब बातें साफ-साफ कह दूं।' नैतिक जीवन की विशुद्धि हुए बिना धार्मिक जीवन का गठन नहीं हो सकता, पर लोग नीति की नहीं, धर्म की ही बात सुनना चाहते हैं। आचार्य उनसे साफ-साफ कहते हैं—'लाचारी है मित्रो! नीति की बात तुम्हे सुननी होगी। इसके बिना धर्म की साधना नहीं हो सकती।' और वे नीति पर उतना ही भार देते हैं, जितना धर्म पर।

आचार्य के प्रवचन ध्यानपूर्वक पढ़ने पर विद्वान् पाठक यह स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते कि व्यवहार्य धर्म की ऐसी सुन्दर उदार और सिद्धान्तसंगत व्याख्या करने वाले प्रतिभाशाली व्यक्ति अत्यन्त विरल होते हैं।

आचार्यश्री अपने व्याख्येय विषय को प्रभावशाली बनाने के लिए और कभी-कभी गूढ़ विषय को सुलभ बनाने के लिए कथा का आश्रय लेते हैं। कथा कहने की उनकी शैली

निराली है। साधारण कथानक में वे जान डाल देते हैं। उसमें जादू-सा चमत्कार आ जाता है। उन्होने अपनी सुन्दर शैली, प्रतिभामयी भावुकता एवं विशाल अनुभव की सहायता से कितने ही कथा-पात्रों को भाग्यवान बना दिया है। 'सव्वा कला धम्मकला जिणइ' अर्थात् धर्मकला समस्त कलाओ में उत्कृष्ट है, इस कथन के अनुसार आचार्यश्री की कथाएँ उत्कृष्ट कोटि की कला की निदर्शन हैं। प्रायः पुराणों और इतिहास मे वर्णित कथाओं का ही प्रवचन करते हैं पर अनेकों बार सुनी हुई कथा भी उनके मुख से एकदम मौलिक--अश्रुतपूर्व--सी जान पड़ने लगती है।

आचार्य के उपदेश की गहराई और प्रभावोत्पादकता का प्रधान कारण है, उनके आचरण की उच्चता। वे उच्चश्रेणी के आचारनिष्ठ महात्मा हैं।

आचार्यश्री के प्रवचनों का उद्देश्य न तो अपना वक्तृत्व-कौशल प्रकट करना है और न विद्वत्ता का प्रदर्शन करना; यद्यपि उनके प्रवचनों से उक्त दोनों विशेषताएँ स्वयं झलकती हैं। श्रोताओ के जीवन को धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से ऊँचा उठाना ही उनके प्रवचनों का उद्देश्य है। यही कारण है कि वे उन बातों पर बारम्बार प्रकाश डालते नजर आते हैं जो धर्ममय जीवन की नींव के समान है। इतना ही नहीं, वे अपने एक ही प्रवचन में अनेक जीवनोपयोगी विषयों पर भी प्रकाश डालते हैं। उनका यह कार्य उस शिक्षक के समान है जो अबोध बालक को एक ही पाठ का कई बार अभ्यास कराकर ऊँचे दर्जे के लिए तैयार करता है।

विश्वास है, यह प्रवचनसंग्रह पाठकों को अत्यन्त लाभ-प्रद सिद्ध होगा। इस संग्रह के प्रकाशन की आज्ञा देने वाले

श्रीहितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम और प्रकाशक सेठ तोलारामजी श्यामलालजी बाठिया, भीनासर, के प्रति हम पाठकों की ओर से कृतज्ञता-प्रकाशन करते है।

सम्पादन करते समय मूल व्याख्यानों के भावों का और भाषा का पूरा ध्यान रक्खा गया है। फिर भी वह छद्मस्थ ही कैसा जो अभ्रान्त होने का दावा करे ? अगर कहीं भाव-भाषा सम्बन्धी अनौचित्य दिखाई पड़े तो उसका उत्तरदायित्व सम्पादक के नाते मुझ पर है।

'दिव्यसंदेश' का प्रथम संस्करण सन् १६४२ में प्रकाशित हुआ था। अब दूसरा संस्करण आपके सामने आ रहा है इतने लम्बे अर्से में एक संस्करण समाप्त होने से प्रकट है कि हमारे समाज में साहित्यिक अभिरुचि बहुत कम है। ऐसा उत्कृष्ट साहित्य घर-घर में होना चाहिए और प्रत्येक नर और नारी तथा युवक और वृद्ध को इसका अध्ययन-मनन करना चाहिए।

जैन गुरुकुल,
ब्यावर
दीपावली, २००७

—शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्रकाशक की ओर से

स्व० जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के व्याख्यानों के आधार पर श्रीमान् प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल द्वारा सम्पादित इस तीसरी किरण का प्रकाशन हमारे पुण्यश्लोक पूज्य पिताजी की ओर से हुआ था। पिताजी की साहित्यिक रुचि बड़ी गहरी थी। उन्होंने अपने जीवनकाल में अनेक ग्रन्थों को स्वय प्रकाशित किया था और प्रकाशन मे दूसरों को आर्थिक सहायता प्रदान की थी। दुःख की बात है कि पिताजी स्वर्गवासी हो गये। अब उनकी पुण्यस्मृति में यह दूसरा सस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

पूज्यश्री के व्याख्यानों का अधिकांश भाग अब प्रकाश में आ चुका है और प्रत्येक पाठक तथा श्रोता उसके महत्त्व से परिचित हो चुका है। अतएव इस विषय में अधिक कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं रही है। पाठकों से विनम्र अनुरोध है कि वे जिज्ञासा और आत्मासुधार की दृष्टि से इसका अध्ययन करेंगे और हमारे श्रम को सार्थक करेंगे।

हमारी ओर से प्रकाशित 'सुबाहुकुमार' नामक पाँचवीं किरण कभी की समाप्त हो चुकी है। उसकी छपाई का कार्य भी चालू किया जा रहा है। आशा है वह भी शीघ्र ही पाठकों के कर-कमलों में पहुँच सकेगी।

पुस्तक तैयार होने में जिन-जिन महानुभावों से हमें सहयोग मिला है उन सब के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रदर्शित करते हैं।

—तोलाराम श्यामलाल बांठिया
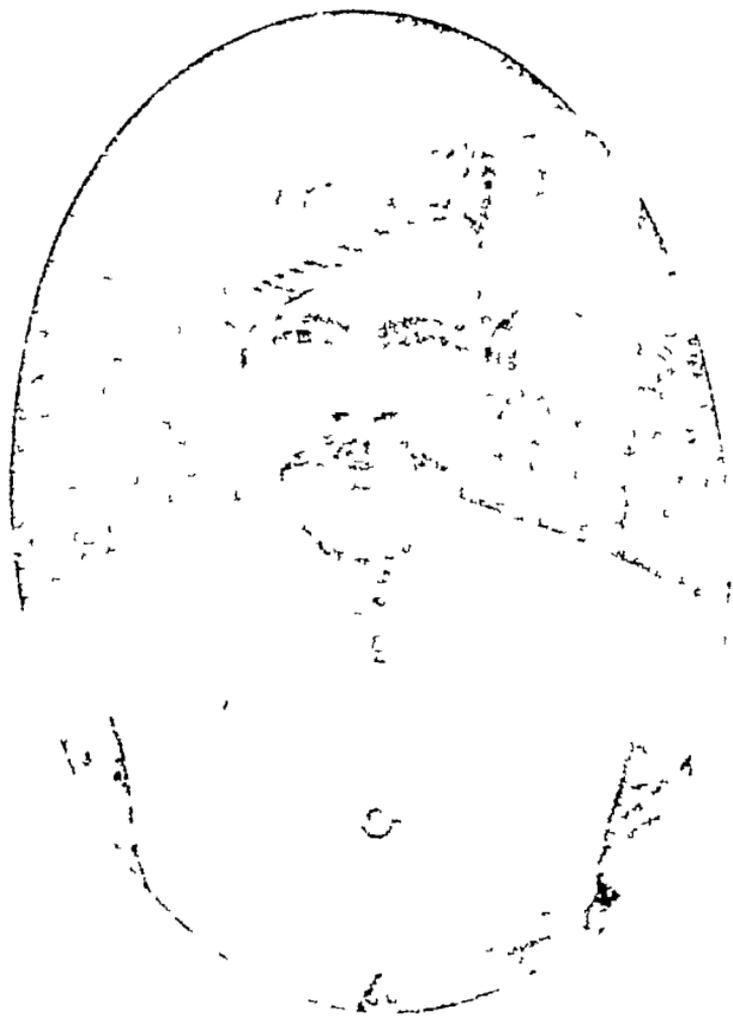
भीनासर—कलकत्ता

श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी बांठिया
भीनासर (बीकानेर)

श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी सा. बांठिया

[संक्षिप्त परिचय]

स्थानकवासी सम्प्रदाय के पुराने नायकों का स्मरण करने पर भीनासर (बीकानेर) के श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया का नाम अवश्य याद किया जाता है। आपने अपने जीवनकाल में समाज की बहुमूल्य सेवाएँ की हैं। समाज की अनेक प्रसिद्ध संस्थाओं के साथ आपका घनिष्ठ सबंध रहा है।

सेठ बहादुरमलजी सा. एक आदर्श श्रीमान् के समस्त गुणों से युक्त महानुभाव थे। आपके हृदय की उदारता, सदाचारिता, सरलता और सेवाप्रेम अनुकरणीय रहे हैं।

भीनासर के बांठिया-वंश मे उदारता तो परम्परागत वस्तु बन गई है। सेठ बहादुरमलजी सा को भी वह वसीयत में मिली थी। सेठजी के पितामह श्री हजारीमलजी बांठिया ने एक लाख, एकतालीस हजार रुपये का उदार दान दिया था, जिसका सार्वजनिक कार्यों में सदुपयोग करते हुए आपने भी अपने जीवनकाल में लगभग सवा लाख रुपयों का दान दिया।

आपकी ओर से भीनासर में एक जैन औषधालय चलता है। बहुत वर्षों तक सेठजी अपने निजी खर्च से और निजी देख-रेख में उसका सचालन करते रहे। वि. सं. ६६ में आपने स्थायी

रूप प्रदान करने के उद्देश्य से २५०००) रु दान कर औषधालय का स्थायी फंड-बना दिया है।

पींजरापोल के लिए आपने अपना एक मकान भेट दिया, पंचायत के लिए मकान और जमीन दी, घोडा आदि पशुओं की दया से प्रेरित हो गंगाशहर से लेकर भीनासर तक पक्की सडक बनवाने में आपका मुख्य हाथ रहा और उसके लिए आपने आधा खर्च भी दिया था।

स्व० पूज्यश्री जवाहरलालजी म० के प्रति आपकी अनुपम भक्ति थी। पूज्यश्री को जब युवाचार्य पदवी देने का श्रीसंघ ने निश्चय किया, पर पूज्यश्री ने उसे स्वीकार न करते हुए सामान्य मुनि के रूप में ही रहने की इच्छा प्रदर्शित की थी तब स्वर्गीय सेठ वर्धमानजी पीतलिया के साथ आप पूज्यश्री की सेवा में उपस्थित हुए थे और आपने युवाचार्य पद की स्वीकृति प्राप्त की थी।

जलगाँव में जब पूज्यश्री का स्वास्थ्य बहुत अधिक खराब हो गया था, तब आप अपने घर-द्वार की चिन्ता छोड़कर पूज्यश्री की सेवा में उपस्थित रहे। उस समय की आप की भक्ति अत्यन्त सराहनीय थी। सवन् १९८४, ९८, और ९९ में भी आपको पूज्यश्री की सेवा का महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त हुआ

वि० सं० १९९९ में आप लकवा से [illegible] चलने-फिरने में असमर्थ हो गये थे। फिर भी भक्ति के [illegible] कारण आप प्रतिदिन पूज्यश्री [illegible] के दर्शन क[illegible]
पर बनवाई गई गाड़[illegible]
थे और व्याख्यान सु[illegible]
में प्रमादशील बने र[illegible]
हृदय से 'वाह-वाह [illegible]

सेठ सा० की धर्मपत्नी का जब स्वर्गवास हुआ, तब उनकी उम्र सिर्फ ३६ वर्ष की थी। धन की बहुलता और यौवनकाल होने पर भी आपने दूसरा विवाह नहीं किया और पूर्ण ब्रह्मचर्य का ही यह प्रताप था कि लकवा से दीर्घ काल से ग्रस्त होने पर भी आप अन्त तक धर्मध्यान करते रहे।

स्वर्गीय सेठ बहादुरमलजी सा० को साहित्य से बहुत प्रेम था। आपने अपनी ओर से कई पुस्तकें प्रकाशित की थीं और कइयों के प्रकाशन मे सहायता प्रदान की थी। 'धर्म-व्याख्या' की दो हजार प्रतियाँ आपने बिना मूल्य वितीर्ण कराईं और 'सत्यमूर्ति हरिश्चन्द्र', 'ब्रह्मचर्य व्रत', 'सुदर्शन चरित्र' और 'मुख-वस्त्रिका सिद्धि' आदि पुस्तको को अर्द्धमूल्य में विक्रय करने के लिए सहायता दी। पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज के जीवन-चरित्र के लिए आपने दो हजार रुपये की बिना माँगी सहायता दी थी और अपने साहित्य-प्रेम एवं धर्मानुराग का परिचय दिया था।

दीक्षाभिलाषी वैरागियों को आपकी ओर से शास्त्र आदि धर्मोपकरण भेट किये जाते थे। आपने अपने अध्ययन के लिए पुस्तकों का ग्रन्थालय के रूप में सग्रह किया था। जिसमें छपे हुए ग्रन्थों के अतिरिक्त हस्तलिखित धर्म-ग्रन्थ भी हैं।

सेठ साहब अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक 'हितेच्छु श्रावक मडल' रतलाम आदि अनेक संस्थाओं के प्रथमश्रेणी के सदस्य रहें। इस प्रकार आपके जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा है।

आपका कुटुम्ब बीकानेर के प्रसिद्ध धनिकों में गिना जाता है। कलकत्ता और मन्सुख (आसाम) में आपके फर्म चलते हैं।

रूप प्रदान करने के उद्देश्य से २५०००) रु. दान कर औषधालय का स्थायी फंड बना दिया है।

पींजरापोल के लिए आपने अपना एक मकान भेंट दिया, पंचायत के लिए मकान और जमीन दी, घोड़ा आदि पशुओं की दया से प्रेरित हो गंगाशहर से लेकर भीनासर तक पक्की सड़क बनवाने में आपका मुख्य हाथ रहा और उसके लिए आपने आधा खर्च भी दिया था।

स्व० पूज्यश्री जवाहरलालजी म० के प्रति आपकी अनुपम भक्ति थी। पूज्यश्री को जब युवाचार्य पदवी देने का श्रीसंघ ने निश्चय किया, पर पूज्यश्री ने उसे स्वीकार न करते हुए सामान्य मुनि के रूप में ही रहने की इच्छा प्रदर्शित की थी तब स्वर्गीय सेठ वर्धमानजी पीतलिया के साथ आप पूज्यश्री की सेवा में उपस्थित हुए थे और आपने युवाचार्य पद की स्वीकृति प्राप्त की थी।

जलगाँव में जब पूज्यश्री का स्वास्थ्य बहुत अधिक खराब हो गया था, तब आप अपने घर-द्वार की चिन्ता छोड़कर पूज्यश्री की सेवा में उपस्थित रहे। उस समय की आप की भक्ति अत्यन्त सराहनीय थी। संवत् १९८४, ९८, और ९९ में भी आपको पूज्यश्री की सेवा का महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त हुआ था।

वि० सं० १९९६ में आप लकवा से ग्रस्त हो कर चलने-फिरने में असमर्थ हो गये थे। फिर भी भक्ति के आधिक्य के कारण आप प्रतिदिन पूज्यश्री तथा सन्तों के दर्शन करने के लिए खास तौर पर बनवाई गई गाड़ी में किसी प्रकार जाते थे, सामायिक करते थे और व्याख्यान सुनते थे। जब अनेक तन्दुरुस्त लोग धर्मक्रिया में प्रमादशील बने रहते हैं तब सेठ सा. की यह धर्मभक्ति देखकर हृदय से 'वाह-वाह !' निकल पड़ता था।

सेठ सा. की धर्मपत्नी का जब स्वर्गवास हुआ, तब उनकी उम्र सिर्फ ३६ वर्ष की थी। धन की बहुलता और यौवनकाल होने पर भी आपने दूसरा विवाह नहीं किया और पूर्ण ब्रह्मचर्य का ही यह प्रताप था कि लकवा से दीर्घ काल से ग्रस्त होने पर भी आप अन्त तक धर्मध्यान करते रहे।

स्वर्गीय सेठ बहादुरमलजी सा० को साहित्य से बहुत प्रेम था। आपने अपनी ओर से कई पुस्तकें प्रकाशित की थीं और कइयों के प्रकाशन में सहायता प्रदान की थी। 'धर्म-व्याख्या' की दो हजार प्रतियाँ आपने बिना मूल्य वितीर्ण कराईं और 'सत्यमूर्ति हरिश्चन्द्र', 'ब्रह्मचर्य व्रत', 'सुदर्शन चरित्र' और 'मुख-वस्त्रिका सिद्धि' आदि पुस्तकों को अर्द्धमूल्य में विक्रय करने के लिए सहायता दी। पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज के जीवन-चरित्र के लिए आपने दो हजार रुपये की बिना माँगी सहायता दी थी और अपने साहित्य-प्रेम एवं धर्मानुराग का परिचय दिया था।

दीक्षाभिलाषी वैरागियों को आपकी ओर से शास्त्र आदि धर्मोपकरण भेट किये जाते थे। आपने अपने अध्ययन के लिए पुस्तकों का ग्रन्थालय के रूप में संग्रह किया था। जिसमें छपे हुए ग्रन्थों के अतिरिक्त हस्तलिखित धर्म-ग्रन्थ भी हैं।

सेठ साहब अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक 'हितेच्छु श्रावक मंडल' रतलाम आदि अनेक संस्थाओं के प्रथमश्रेणी के सदस्य रहें। इस प्रकार आपके जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा है।

आपका कुटुम्ब बीकानेर के प्रसिद्ध धनिकों में गिना जाता है। कलकत्ता और सन्मुख (आसाम) में आपके फर्म चलते हैं।

कलकत्ते मे छतरी का, प्लास्टिक का, आपका प्रसिद्ध कारखाना है। बम्बई, दिल्ली और नागपुर मे भी विभिन्न नामों से छाते के कारखाने हैं। इस प्रकार धन का भरापूरा भंडार होने पर भी सेठ साहब की सादगी प्रशंसनीय थी। आप अत्यन्त सरल, मिलनसार और भावुक थे।

आपके सुपुत्र सेठ तोलारामजी तथा श्यामलालजी साहब भी बड़े सेवाभावी, धर्मानुरागी और सरल-हृदय हैं। आपसे समाज को बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम संस्करण सेठ श्रीबहादुरमलजी साहब की ओर से ही प्रकाशित हुआ था। उस समय आप विद्यमान थे। मगर बहुत दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि अब आप हमारे बीच में मौजूद नहीं है। सेठ साहब के नाम के साथ 'स्वर्गीय' शब्द लगाने में जैसी मार्मिक वेदना हृदय को हो रही है, उसका वर्णन करना कठिन है। सेठ साहब के वियोग से एक उदार हृदय, विद्याप्रेमी और साहित्यरसिक सज्जन की बड़ी भारी क्षति हुई है।

यह दूसरा संस्करण आपके सुयोग्य पुत्र-युगल की ओर से, सेठ साहब की स्मृति के रूप में, लागत मात्र मूल्य मे प्रकाशित हो रहा है। वे समाज की ओर से अनेक धन्यवाद के पात्र हैं।

सम्पादक।
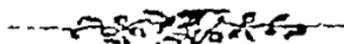
दिव्य-सन्देश : : विषयानुक्रम

नं०	विषय	पृष्ठ

ब्रह्मचर्य

प्रार्थना

श्री आदीश्वर स्वामी हो,
प्रणमूं सिर नामी तुम भणी, प्रभु अन्तर्यामी आप।
मो पर म्हेर करीजे हो,
मेटीजे चिन्ता मन तणी, म्हारा काट पुराकृत पाप ॥

भगवान् आदिनाथ की यह प्रार्थना की गई है। ऋषभदेव प्रभु को जैन और अजैन जनता अपना आराध्यदेव मानती है। आदिनाथ भगवान् इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थङ्कर हुये हैं। उनके जीवन पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि भगवान् ऋषभदेव ने धर्म-तीर्थ की स्थापना करने से पहले, जनता में धार्मिक पात्रता उत्पन्न करने के लिये सुन्दर समाज-व्यवस्था की थी। उन्होंने विविध कलाओं की स्थापना की और शिक्षा-पद्धति भी चलाई थी। समाज-शान्ति के लिये भगवान ने नीति-निर्माण किया और वर्ण-व्यवस्था की भी नींव डाली थी।

शास्त्रों के मर्म का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् के द्वारा की हुई वर्ण-व्यवस्था कर्त्तव्य की सुविधा के लिये थी। वह अहंकार का पोषण करने के लिये नहीं थी। अतएव आज वर्णों के नाम पर जो उच्चता-नीचता की भावना

फैली हुई है, वह वर्ण–व्यवस्था का स्वरूप नहीं है। यह वर्ण–व्यवस्था का विकार है। प्रत्येक व्यवस्था कुछ समय व्यतीत होने पर सर्व–साधारण के सम्पर्क से विकृत हो जाती है। यहाँ तक कि लोग उसका मूल–सिद्धान्त भुला देते हैं और उसके विविध विकारों को इतना अधिक महत्व दे देते हैं कि उसके मूलसिद्धान्त को खोज निकालना भी मुश्किल हो जाता है। जब उस व्यवस्था का मूल–सिद्धान्त विकारों में दब जाता है तो अनेक लोग उसे हानिकारक और अनुपयोगी समझ कर, उससे घृणा करने लगते हैं। अगर इस प्रकार घृणा करने वाले लोग दोष के पात्र हैं, तो उनसे पहले दोषी वे हैं जो अमृत सरीखी हित–कारक शुद्ध व्यवस्था में विकार के विष का सम्मिश्रण करके उसे विषैल बना डालते हैं। तथापि विवेकशील विद्वानों का यह कर्त्तव्य है कि वे किसी व्यवस्था को समूल नष्ट करने का प्रयत्न करने से पहले उसके अन्तस्तत्व का अन्वेषण करें और उसे पहचान कर आये हुए विकारों को ही दूर करने की चेष्टा करें।

वर्ण–व्यवस्था सामाजिक और राष्ट्रीय अभ्युदय के लिये अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी थी और अब भी है, परन्तु वर्ण-व्यवस्था का वर्तमान विकृत रूप अवश्य त्याज्य है। उदाहरण के लिये आज–कल के क्षत्रिय मूक पशुओं का शिकार करने में ही अपने अपने क्षात्र–धर्म की शोभा समझते हैं और राष्ट्र–रक्षा के अपने असली कर्त्तव्य से विमुख हो रहे हैं। कहाँ तो राष्ट्र की, राष्ट्र की निर्बल जनता की रक्षा करना और कहाँ बेचारे घास खा कर वन में रहने वाले हिरन आदि सौम्य एवं मूक प्राणियों की निर्दयतापूर्ण हिंसा! दोनों में आकाश–पाताल का अन्तर है।

एक समय ऐसा था जब क्षत्रियों ने अपने धर्म का पालन करके संसार को इस प्रकार प्रकाशित कर दिया था, जैसे सूर्य अपने प्रखर प्रताप से विश्व को आलोकित कर देता है। बड़े २

राजों-महाराजों ने और ऋषि-महर्षियों ने धर्म के तेज को धारण करके पाप के अन्धकार को विलीन-सा कर दिया था। उन तेजस्वी पुरुषों की जीवन कथा आज भी हमें उनके पदानुसरण के लिए प्रेरित और उत्साहित करती है। प्राचीन काल में क्षत्रियों ने अपना क्षात्र-धर्म किस प्रकार दिखाया था, इसका उल्लेख इतिहास के पन्नों पर सुवर्ण-वर्णों से लिखा हुआ है। वे गृहस्थ थे, पर आजकल के आचार-विचार वाले नहीं थे। उन्हें गम्य-अगम्य का अवगम था, भक्ष्य-अभक्ष्य का भान था और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक था। जिसे गम्य-अगम्य का ज्ञान नहीं है, भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार नहीं है और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध नहीं है, वह सच्चे अर्थ में मनुष्य कहलाने योग्य भी नहीं है।

जिन्होंने कर्त्तव्य के राजमार्ग को छोड़ कर अकर्त्तव्य के पथ पर पैर रक्खा था उन्हें संसार घृणा की दृष्टि से देख रहा है। अकर्त्तव्य करने वाले स्वयं तो पतित हुये ही, पर उन पर जिन दूसरों का उत्तरदायित्व था, उन्हें भी वे ले डूबे। उन्होंने उन भोले और अज्ञानी लोगों को भी पतित बना दिया।

वीर क्षत्रियवंश ने अपने कर्त्तव्य में रत रह कर, न केवल अपने ही वंश को वरन् चारों आश्रमों को देदीप्यमान कर दिया था। शास्त्रों में इस कथन के पोषक बहुत से उल्लेख मौजूद हैं। जैनियों के देवाधिदेव तीर्थंकरों ने क्षत्रिय वंश में ही जन्म लिया था। क्षात्र-तेज के बिना धर्म प्रकाशित नहीं होता। धर्म को प्रकाशित करने के लिए वीर क्षत्रियों ने अपने प्राण न्यौछावर कर दिये। जिन्होंने अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर दिया, उन्हें अपने तन का कितना मोह होगा, यह आप ही विचार लें। वास्तव में वही कुछ काम कर सकते हैं जिन्होंने अपने तन का मोह हटा दिया है। जिन्होंने अपने तन को धर्म से अधिक मूल्यवान् मान लिया, शरीर को विलास का साधन समझ लिया, आमोद-

प्रमोद को अपने जीवन का उद्देश्य स्वीकार कर लिया और जिन्होंने सुकुमार बन कर सुख-शय्या पर पड़े रहना ही अपना कर्त्तव्य बना लिया है, वे संसार में कुछ भी प्रकाश नहीं फैला सकते।

कई भाई कहते हैं—अभी पंचम काल है, कलिकाल है, अतएव हमारी उन्नति नहीं हो सकती। जब समय ही बदल गया तब परिस्थिति भी प्रतिकूल हो गई। मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि समय के बदल जाने का अर्थ क्या है? वही पृथ्वी है, वही सूर्य है, सूर्य का उसी प्रकार उदय-अस्त हो रहा है। फिर बदल क्या गया है? और यों देखो तो समय प्रतिक्षण बदलता ही रहता है। एक समय जो वर्तमान काल है वही दूसरे समय में भूतकाल बन जाता है और भविष्य क्रमशः वर्त्तमान रूप में परिवर्त्तित होता जा रहा है। इस प्रकार काल अनादि से लेकर अब तक अविराम गति से बदलता जा रहा है और सदैव निरन्तर बदलता चला जायगा। फिर इसी समय काल बदलने की शिकायत क्यों की जाती है?

माना, काल बदल गया है, और बदलता जा रहा है, पर काल ने तुम्हारे अभ्युदय की सीमा तो निर्धारित नहीं कर दी है? काल ने किसी के कान में यह तो कह नहीं दिया है कि तुम अपने कर्त्तव्य की ओर ध्यान मत दो। अपने प्रयत्न त्याग कर निश्चेष्ट होकर बैठे रहो। काल को ढाल बना कर अपनी चाल को छिपाने का प्रयत्न करना उचित नहीं है। अगर ऐसा हुआ तो काल का कुछ नहीं बिगड़ेगा-बिगाड़ तुम्हारा ही होगा। सचाई यह है कि जिनके ऊपर वर्णाश्रम की रक्षा और व्यवस्था का उत्तरदायित्व था वही लोग आज इन्द्रियों के दास बन कर अपने कर्त्तव्य को भूल गये हैं। अगर वे अपना उत्तरदायित्व समझ लें तो उन्नति होने में विलम्ब नहीं लगेगा।

मित्रो ! विषम काल तो क्षत्रियों के लिये बड़ा अच्छा अवसर गिना जाता है। विषम काल में और विषम परिस्थितियों में वे अपने क्षात्र-धर्म का प्रदर्शन करते हैं। जिन क्षत्रियवीरों ने अपनी वीरता के जौहर दिखाये वह विषम काल ही था। सच्चा शूरवीर क्षत्रिय विषम काल से नहीं डरता। इतना ही नहीं, वह विषम काल में जूझ कर अपने क्षात्र-तेज को चमकाने के लिए उत्कण्ठित रहता है। जिस विषम काल में क्षत्रियों ने अपने वीर तेज का प्रदर्शन किया था, उस काल में उनके प्रतिपक्षियों को दंग रह जाना पड़ा था।

बहादुर क्षत्रिय जिस प्रकार अन्य अन्यायों को सहन नहीं कर सकते थे, उसी प्रकार रमणियों के आर्त्तनाद को भी सुन नहीं सकते थे। रमणियों की धर्मरक्षा के लिए उन्होंने अपने प्राण संकट में डाले, अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं और घनघोर युद्ध किये।

वीर क्षत्रिय विलासमय जीवन को हेय और घृणित समझते थे। वे स्त्रियों की गोद में पड़ा रहना पसन्द नहीं करते थे। जिन क्षत्रियों ने विलासमय जीवन व्यतीत किया और जो रमणियों की गोद में पड़े रहे, उनकी क्या गति हुई, सो इतिहास के पन्ने पलटने से सहज ही विदित हो सकता है। जिन वीरों ने अपने आदर्श-जीवन से भारत का मस्तक ऊँचा उठाया था, उनका मस्तक विलासपूर्ण जीवन बिताने वालों और स्त्रियों के साथ एकदम पड़े रहने वालों ने नीचा कर दिया। आप वीरों में वीर पृथ्वीराज चौहान के इतिहास को पढ़िये। उसने भारत के शत्रुओं को अनेक बार पराजित किया था। पर संयुक्ता के प्रेमपाश में वह ऐसा फँसा कि बारह वर्ष तक अन्तपुर से बाहर न निकला। उसका फल यह हुआ कि शत्रुओं का बल बढ़ गया और उसे कैद होना पड़ा। शत्रुओं ने पृथ्वीराज को कैद किया अर्थात् समस्त

भारतवर्ष को कैद कर लिया। एक वीर क्षत्रिय स्वतन्त्रता खो कर गुलाम क्या बना, सारे भारत को उसने गुलाम बना दिया। जो क्षत्रिय अपने धर्म से च्युत होकर अपने देश को च्युत कर देता है वह अत्यन्त पातकी है।

क्षात्रधर्म का विषय बहुत विस्तृत है। इस पर भलीभांति प्रकाश डालने के लिए कई दिनों तक भाषण करने की आवश्यकता है। किन्तु आज मुझे ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में बोलने की सूचना दी गई है, अतएव इसी विषय पर कुछ प्रकाश डालूँगा। क्षत्रियों के तेजस्वी जीवन का ब्रह्मचर्य से घनिष्ट सम्बन्ध भी है। अतएव क्षत्रियधर्म में ब्रह्मचर्य का भी समावेश होता है।

ब्रह्मचर्य शब्द कैसे बना और ब्रह्मचर्य क्या है, सर्वप्रथम इस बात का विचार करना चाहिए। हमारे आर्यधर्म के साहित्य में ब्रह्मचर्य शब्द का उल्लेख मिलता है। जिन दिनों, अवशेष संसार यह भी नहीं जानता था कि वस्त्र क्या होते हैं और अन्न क्या चीज़ है, नंग-धड़ंग रह कर कच्चा मांस खाकर अपना पाशविक जीवन यापन कर रहा था उन दिनों भारत बहुत ऊँची सभ्यता का धनी था। उस समय भी उसकी अवस्था बहुत उन्नत थी। यहाँ के ऋषियों ने, जो संयम, योगाभ्यास, ध्यान, मौन आदि अनुष्ठानों में लगे रहते थे, संसार में ब्रह्मचर्य नाम को प्रसिद्ध किया। ब्रह्मचर्य का महत्व तभी से चला आता है जब से धर्म की पुनः प्रवृत्ति हुई। भगवान् ऋषभदेव ने धर्म में ब्रह्मचर्य को भी अग्र स्थान प्रदान किया था। साहित्य की ओर दृष्टिपात कीजिये तो विदित होगा कि अत्यन्त प्राचीन साहित्य-आचारांग सूत्र तथा ऋग्वेद—में भी ब्रह्मचर्य की व्याख्या मिलती है। इस प्रकार आर्य प्रजा को अत्यन्त प्राचीन काल से ब्रह्मचर्य का ज्ञान मिलता रहा है।

आजकल ब्रह्मचर्य शब्द का सर्वसाधारण में कुछ संकुचित-सा अर्थ समझा जाता है। पर विचार करने से मालूम होता है कि वास्तव में उसका अर्थ बहुत विस्तृत है। ब्रह्मचर्य का अर्थ बहुत उदार है अतएव उसकी महिमा भी बहुत अधिक है। हम ब्रह्मचर्य का महिमागान नहीं कर सकते। जो विस्तृत अर्थ को लक्ष्य में रख कर ब्रह्मचर्य बना है उसे पूर्णतः पालन करने वाले को अखण्ड ब्रह्मचारी कहते हैं। अखण्ड ब्रह्मचारी का मिलना इस काल में अत्यन्त कठिन है। आजकल तो अखण्ड ब्रह्मचरी के दर्शन भी दुर्लभ है। अखण्ड ब्रह्मचारी में अद्भुत शक्ति होती है। उसके लिए क्या शक्य नहीं है? वह चाहे सो कर सकता है। अखण्ड ब्रह्मचारी अकेला सारे ब्रह्माण्ड को हिला सकता है। अखण्ड ब्रह्मचारी वह है जिसने अपनी समस्त इन्द्रियों को और मन को अपने अधीन बना लिया हो—जो इन्द्रिय और मन पर पूर्ण आधिपत्य रखता हो। इन्द्रियाँ जिसे फुसला नहीं सकती, मन जिसे विचलित नहीं कर सकता। ऐसा अखण्ड ब्रह्मचारी ब्रह्म का शीघ्र साक्षात्कार कर सकता। अखण्ड ब्रह्मचारी की शक्ति अजब-गजब की होती है।

ब्रह्मचर्य पालन करने वाले को अखण्ड ब्रह्मचर्य का आदर्श सामने रखना चाहिये। यद्यपि अखण्ड ब्रह्मचारी के दर्शन होना इस काल में कठिन है, तब भी उसके आदर्श को सामने रक्खे बिना सादा ब्रह्मचर्य भी यथावत् पालन करना कठिन है। कोई यह कह सकता है कि जब अखण्ड ब्रह्मचारी हमारे सामने ही नहीं है, तब उसका आदर्श अपने सामने किस प्रकार रक्खा जाय? इसका उत्तर इस प्रकार है। भूमिति शास्त्र में भूमध्य रेखा का बड़ा महत्त्व है। भूमध्य रेखा सिर्फ एक कल्पना मात्र है। वास्तव में भूमध्य रेखा की कोई मोटाई नहीं है, फिर भी इस कल्पित भूमध्य रेखा को यथावस्थित करने से तमाम रेखाएँ खींची

नीरोग और प्रमोदमय जीवन का धनी होता है। उसके इस धन के सामने चाँदी-सोने के टुकड़े किसी गिनती में नहीं हैं।

मित्रो! तुम—ओसवाल भाई-पहले वीर क्षत्रिय थे। तुम्हारे विचारों में बनियापन बाद में आया है। अपने इन बनियापन के विचारों को हृदय से निकाल दो। गीता में कहा है—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः।' अर्थात श्रद्धा से मनुष्य जैसा चाहे वैसा बन सकता है। तुम ओसवालों मे किसी प्रकार का बिगाड़ नहीं हुआ है। तुम्हारे शरीर में शुद्ध क्षत्रियरक्त दौड़ रहा है। उठो! तुम्हारे उठे बिना बेचारा रक्त भी क्या करेगा? 'म्हें तो ढीली धोतीरा वाणिया हाँ' इस प्रकार की कायरतापूर्ण बातें कहना छोड़ो। हमने—साधुओं ने–तुम्हें बनिया नहीं बनाया था, 'महाजन' बनाया था। 'महाजन' का अर्थ 'बड़ा आदमी' होता है। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' महाजन जिस मार्ग से जावे वही सुमार्ग है, अर्थात् वही मार्ग अनुसरणीय है। ऐसी लोकोक्ति तुम्हारे विषय में प्रचलित थी। तुम दुनिया को रास्ता बतलाने वाले थे।

एक समय आप लोगों में वह ताकत थी, ऐसी कुव्वत थी, जिसके प्रताप से राजा भी आपके आगे नतमस्तक होते थे। राज्य का शासन तुम्हारे ही हाथों में रहता था। अभी बहुत दिन नहीं बीते हैं, बीकानेर, उदयपुर, जयपुर आदि राज्यों के दीवान 'महाजन' ही थे। इतिहास इस बात की साक्षी दे रहा है कि आप महाजन क्षत्रिय थे।

'क्षतात्–नाशात् त्रायते–रक्षति, इति क्षत्रियः।' अर्थात् जो दुःख से मरते हुए की रक्षा करता है वह क्षत्रिय है। मनु ने तथा ऋषभदेव ने आपको संसार की रक्षा करने का भार सौंपा

कहना चाहिए कि, तू क्यों चिढ़ता है? क्या तू वीर्य से पैदा नहीं हुआ है? क्या वीर्य का तेरे ऊपर उपकार नहीं है? यदि है तो उसकी रक्षा के उपदेश से क्यों चिढ़ता है?

और देशों में क्या होता है, यह प्रश्न मेरे सामने नहीं है। मैं भारतवर्ष को लक्ष्य करके ही कह रहा हूँ। भारतवासियों ने वीर्य का दुरुपयोग करके विविध प्रकार की व्याधियाँ बिसाही हैं। करोड़ों मनुष्य वीर्य की यथोचित रक्षा न करने के कारण रोगों के शिकार हो रहे हैं। न जाने कितने हतवीर्य लोग आज भूख से तड़प रहे हैं, शोक से व्याकुल हैं। स्वतंत्रता की जगह गुलामी भोग रहे हैं। वीर्य का विनाश करके लोगों ने अपने पैर पर आप ही कुल्हाड़ा मारा है। यही नहीं, उन्होंने अपनी सन्तान का भविष्य भी अन्धकारमय बना डाला है। निर्बलों की सन्तान कितनी सबल होती होगी? आजकल के युवकों का तेजोहीन वदन, चेहरे पर पड़ी हुई झुर्रियाँ, झुकी हुई कमर और गड्हों में धँसी हुई आँखे देख कर तरस आये बिना नहीं रहता। यह सब जीवनतत्त्व की न्यूनता का द्योतक है। वीर्यनाश के ऐसे-ऐसे भयकर परिणाम दिखाई दे रहे हैं फिर भी कुछ लोग झूठी लज्जा के वश होकर इस सम्बन्ध में प्रकट बात कहने का विरोध करते हैं। अरे रुई की पोटली में लगी हुई आग कब तक छिपेगी? वह तो आप ही प्रकट होगी। ऐसी स्थिति में वीर्यरक्षा का उपदेश देना जीवन की प्रतिष्ठा का उपदेश देना है।

जो वीर्य रूपी राजा को अपने काबू में कर लेता है वह सारे संसार पर अपना दावा रख सकता है। उसके मुख-मण्डल पर विचित्र तेज चमकता है। उसके नेत्रों से अद्भुत ज्योति टपकती है। उसमें एक प्रकार की अनोखी क्षमता होती है। वह प्रसन्न,

नीरोग और प्रमोदमय जीवन का धनी होता है। उसके इस धन के सामने चाँदी-सोने के टुकड़े किसी गिनती में नहीं हैं।

मित्रो! तुम—ओसवाल भाई—पहले वीर क्षत्रिय थे। तुम्हारे विचारों में बनियापन बाद में आया है। अपने इन बनियापन के विचारों को हृदय से निकाल दो। गीता में कहा है—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः।' अर्थात् श्रद्धा से मनुष्य जैसा चाहे वैसा बन सकता है। तुम ओसवालों में किसी प्रकार का बिगाड़ नहीं हुआ है। तुम्हारे शरीर में शुद्ध क्षत्रियरक्त दौड़ रहा है। उठो! तुम्हारे उठे बिना बेचारा रक्त भी क्या करेगा? 'म्हें तो ढीली धोतीरा वाणिया हाँ' इस प्रकार की कायरतापूर्ण बातें कहना छोड़ो। हमने—साधुओं ने—तुम्हें बनिया नहीं बनाया था, 'महाजन' बनाया था। 'महाजन' का अर्थ 'बड़ा आदमी' होता है। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' महाजन जिस मार्ग से जावें वही सुमार्ग है, अर्थात् वही मार्ग अनुसरणीय है। ऐसी लोकोक्ति तुम्हारे विषय में प्रचलित थी। तुम दुनिया को रास्ता बतलाने वाले थे।

एक समय आप लोगों में वह ताकत थी, ऐसी कुव्वत थी, जिसके प्रताप से राजा भी आपके आगे नतमस्तक होते थे। राज्य का शासन तुम्हारे ही हाथों में रहता था। अभी बहुत दिन नहीं बीते हैं, बीकानेर, उदयपुर, जयपुर आदि राज्यों के दीवान 'महाजन' ही थे। इतिहास इस बात की साक्षी दे रहा है कि आप महाजन क्षत्रिय थे।

'क्षतात्—नाशात् त्रायते—रक्षति, इति क्षत्रियः।' अर्थात् जो दुःख से मरते हुए की रक्षा करता है वह क्षत्रिय है। मनु ने तथा ऋषभदेव ने आपको संसार की रक्षा करने का भार सौंपा

था। उन्होंने हुक्म दिया था कि दुर्बलों पर न अत्याचार करो, न करने दो। सच्चा क्षत्रिय निर्बलों का त्राता—रक्षक होता है। वह स्वयं मरना स्वीकार करेगा परन्तु अपने सामने निर्बलों को मरते न देख सकेगा। क्षत्रिय अपनी रक्षा के लिये दूसरे का मुँह नहीं देखेगा क्योंकि वह स्वयं रक्षित है। मनुष्य स्वयं रक्षित तभी बन सकता है जब उसने वीर्य की रक्षा की हो। वीर बनने के लिये पहले वीर्य की रक्षा करो। वीर्य हमारा जीवन है। वीर्य हमारा माँ-बाप है, वीर्य हमारा ब्रह्म है। वीर्य हमारा तेज है। वीर्य हमारा सर्वस्व है। जो मूर्ख अपने सर्वस्व का नाश कर डालता है उसके बराबर हत्यारा दूसरा कौन है? जो मनुष्य करोड़ रुपया तोले की कीमत का अतर गधे के शरीर को चुपड़ता है उसे आप क्या कहेंगे?

'महामूर्ख!'

सभा में, सभ्यता की मर्यादा का ध्यान रखना ही चाहिए। इसीलिए नग्न सत्य नहीं कहना चाहता, फिर भी विचार कीजिये कि वीर्य करोड़ रुपया तोले की कीमत वाले अतर की अपेक्षा भी अधिक कीमती है। इतने कीमती पदार्थ को जो नीच स्त्रियों की तरफ आकृष्ट होकर कुचाल चलने की चेष्टा में फैंक देता है, उस नीच पुरुष को क्या कहा जाय? उसे किसकी उपमा दी जाय?

मित्रो! जो मूर्ख अमूल्य अतर गधे को लगा देगा वह बादशाह की इज्जत किससे करेगा? जो मनुष्य अपने अनमोल वीर्य रूपी अतर को नीच वेश्याओं को सौंप देगा वह संसार की पूजा—सेवा—किससे करेगा? याद रक्खो, वीर्य में बड़ी भारी शक्ति है। इस शक्ति के प्रभाव से इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवता भी पीपल के पत्ते की भाँति थरथर काँपने लगते हैं। महाभारत में

एक स्थल पर वर्णन है कि अर्जुन ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ तप कर रहा था। उसकी उग्र तपस्या देख कर इन्द्र को भय हुआ कि कहीं अर्जुन मेरा राज्य न छीन ले। मैं कहीं इन्द्र-पद से भ्रष्ट न कर दिया जाऊँ! इस प्रकार भयभीत होकर इन्द्र ने बहुत विचार किया। जब उसे कोई उपाय न सूझ पड़ा तब उसने रम्भा नामक एक अप्सरा को बुला कर कहा—'रम्भे, जाओ और अपने छल-कौशल से अर्जुन का ब्रह्मचर्य खण्डित करके उसे तपोभ्रष्ट कर डालो।

रम्भा सुसज्जित होकर अर्जुन के पास गई। वह अपना हावभाव दिखा कर बोली—'हा हा नाथ! मेरे प्रियतम! यह नाशकारी मन्त्र आपको किस गुरु ने बतलाया है? इस मन्त्र के पीछे पड़ कर मनुष्यत्व से क्यों हाथ धो रहे हो? मैं आपकी सेवा में उपस्थित हूँ। तपस्या करके भी मुझ से बढ़िया कौन-सी चीज पा जाओगे? जब मैं उपस्थित हो गई हूँ तब तपस्या करना निष्फल है। इस कायक्लेश को त्यागिये और मुझे ग्रहण कर मानव-जीवन को सफल बनाइये।'

अर्जुन अपनी तपस्या में मगन था। वह रम्भा को माता के रूप में देख रहा था।

रम्भा ने अपना सारा कौशल आजमा लिया। उसने विविध प्रकार के हाव भाव दिखाये और अर्जुन को तपस्या से च्युत करने के लिए सभी कुछ कर डाला; पर अर्जुन नहीं डिगा सो नहीं डिगा। अर्जुन मानो सोच रहा था—माता अपने बालक को किसी प्रकार मनाना चाहती है!

रम्भा सब तरह से हार गई। वह अर्जुन का धीर्य न खींच सकी। तब उसने अपना अन्तिम अस्त्र काम में लिया, क्योंकि वह

सिखलाई हुई थी, गुलाम थी, पुरुष की विषय-वासना की दासी थी। वह नग्न हो गई।

रम्भा अप्सरा थी। उसका रूप—सौन्दर्य कम नहीं था। तिस पर अर्जुन को तपोभ्रष्ट और ब्रह्मचर्य-भ्रष्ट करने के उद्देश्य से उसने अपने दैवी बल से अद्भुत आकर्षक रूप धारण किया। उसने कामदेव की ऐसी फुलवाड़ी खिलाई कि न मोहित होने वाला भी मोहित हो जाय। परन्तु वीर अर्जुन तिलमात्र भी न डिगा। उसका मन-मेरु रंच मात्र भी विचलित नहीं हुआ। उसने मुस्किरा कर कहा—'माता! अगर आपने इस सुन्दर शरीर से मुझे जन्म दिया होता तो मुझ में और अधिक तेज आ जाता।

रंभा लज्जित हुई। वह अर्जुन से परास्त हुई। उसने अपना रास्ता पकड़ा।

अर्जुन की प्रतिज्ञा थी कि जो मेरे गांडीव धनुष की निन्दा करेगा उसका मैं सिर उड़ा दूंगा। मित्रो! अर्जुन यदि वीर्यशाली न होता तो क्या ऐसी भीषण प्रतिज्ञा कर सकता था? कदापि नहीं! वीर्यबल के सामने शस्त्र का बल तुच्छ है। अर्जुन जब अपने धनुष की निन्दा नहीं सह सकता था तब क्या वह अपने वीर्य की निन्दा सहन कर लेता? नहीं। क्योंकि वीर्य के बिना धनुष काम नहीं आ सकता। अतएव धनुष कम कीमती है और वीर्य अधिक मूल्यवान् है।

हे क्षत्रिय पुत्रो! ऐ पाण्डवों की सन्तानो! जिस वीर्य के प्रताप से तुम्हारे पूर्वजों ने विश्व भर में अपनी कीर्त्ति-कौमुदी फैलाई थी, उस वीर्य का तुम अपमान करोगे?

वीर्य का अपमान क्या है और कैसे होता है, इसे समझ लीजिये। लुभावने राग-रंग में लीन होकर विलासमय जीवन व्यतीत करना ही वीर्य का अपमान है। क्या आप 'नोबिल स्कूल' के क्षत्रिय कुमार, वीर्य का अपमान न करने की प्रतिज्ञा कर सकते हैं? आप क्षत्रिय हैं। वीरता के साथ बोलिये—हाँ, हम अपमान न करेंगे।

वीर्य का अपमान न करने से मेरा आशय यह नहीं है कि आप विवाह ही न करें। मैं गृहस्थ-धर्म का निषेध नहीं करता। गृहस्थ को अपनी पत्नी के साथ मर्यादा के अनुसार रहना चाहिये। वीर्य का अपमान करने का अर्थ है—गृहस्थ-धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करके पर-स्त्री के मोह में पड़ना, वेश्यागामी होना अथवा अप्राकृतिक कुचेष्टाएँ करके वीर्य का नाश करना। पितामह भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचर्य पाला था। आप उनका अनुकरण करके जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्य पालें तो खुशी की बात है। अगर आपसे यह नहीं हो सकता तो विधिपूर्वक लग्न कर सकने की मनाई नहीं है। पर विवाहिता पत्नी के साथ भी सन्तानोत्पत्ति के सिवाय—ऋतुदान के अतिरिक्त वीर्य का नाश नहीं करना चाहिये। स्त्रियों को भी यह चाहिये कि वे अपने मोहक हाव-भाव से पति को विलासी बनाने का प्रयत्न न करें। जो स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा के सिवाय केवल विलास के लिए अपने पति को विलास में फँसाती है वह स्त्री नहीं, पिशाचिनी है। वह अपने पति के जीवन को चूसने वाली है।

आप परस्त्री-सेवन का त्याग करें, यह किसी पर एहसान नहीं है। यह तो अपने आपके लिए लाभदायक है। कल्याणकारक

है। भारतवर्ष का यह दुर्भाग्य है कि आज भारत की सन्तान को वीर्यरक्षा का महत्व समझाना पड़ता है !

ऐ भीष्म की सन्तानो ! भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करके दुनिया के कानों में ब्रह्मचर्य का पावन मन्त्र फूँका था। आज उन्हीं की सन्तान कहलाते हुए उन्हीं के मन्त्र को क्यों भूल रहे हो ? भीष्म गङ्गा का पुत्र था। उसने अपने पिता शान्तनु के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य पाला था। ब्रह्मचर्य के प्रताप से उन दिनों भीष्म के बराबर बलशाली संसार में दूसरा कोई नहीं था। लोगों ने हाथ जोड़ कर उनसे प्रार्थना की—'महाराज ! आप संसार को हानि पहुँचा रहे हैं।'

भीष्म बोले—कैसे ?

लोगों ने उत्तर दिया—अन्नदाता, वीर पुरुषों की सन्तान भी वीर होती है। आप संसार में अद्वितीय वीर्यशाली वीर हैं। आप विवाह नहीं करेंगे तो आपके पश्चात् कौन वीर कहलाने योग्य होगा ?

पितामह ने हँसकर कहा—भाइयो ! तुम ने ठीक कहा। यदि मैं विवाह कर लेता तो मेरी एक-दो सन्तान वीर होती। पर मेरे आजीवन ब्रह्मचर्य को देखकर कितनी सन्तान वीर बनेगी, इसका भी अन्दाज आपने लगाया ?

अहा ! पितामह भीष्म ने जिस उच्चतर ध्येय को अपने सामने रखकर ब्रह्मचर्य-व्रत का आदर्श खड़ा किया, उसी ध्येय के प्रति उनकी ही सन्तान उदासीनता दिखला रही है ! यह देखकर पितामह क्या कहते होंगे ?

कई श्रावक गर्दन हिलाते हुये कहते हैं—'महाराज, वत्ती तो सरदा कोयनी, पाँच दिनरा पच्चखाण करा यो। (अधिक तो

श्रद्धा है नहीं, पाँच दिन का त्याग करा दीजिये)' अफसोस! श्रावक का नाम धराते हैं पर श्रावक के कर्त्तव्यों का ज्ञान ही नहीं है। सच्चा श्रावक ऋतुकाल के अतिरिक्त विषय-सेवन करता ही नहीं है। उसके बदले यहाँ यह हालत है कि पाँच दिन का त्याग किया जाता है और वह भी इस प्रकार कह कर, मानों महाराज पर एहसान कर रहे हैं! 'पाँच दिनरा पच्चखाण करा द्यो, वत्ता नहीं'; कितनी कायरता है! विषय-लम्पटता का कितना दौर चल रहा है, यह इस बात का प्रमाण है और हम समझते हैं—गूंगा 'बा' बोला यही गनीमत है—बोलना तो सीखा! सर्वथा भोग से कुछ त्याग तो अच्छा ही है।

वीर्यरक्षा की साधना करने वाले को अपनी भावना पवित्र बनाये रखने की बड़ी आवश्यकता है। उसे चाहिए कि वह कुत्सित विचारों को पास न फटकने दे। सदा शुद्ध वातावरण में रहना, शुचि विचार रखना, आहार-विहार सम्बन्धी विवेक रखना; ब्रह्मचर्य के साधक के लिए अतीव उपयोगी है। ऐसा किये बिना वीर्य की भलीभांति रक्षा होना संभव नहीं है।

बालकों के सम्बन्ध में इन बातों पर ध्यान रखना उनके माता-पिता एवं संरक्षकों का काम है। पर अभागे भारत में जो न हो वही गनीमत है। बचपन से ही बालक-बालिकाओं में ऐसे भाव भरे जाते हैं कि छोटी अवस्था में ही वे बिगड़ जाते हैं। लोग बालिका को प्यार करते हैं तब कहते हैं—'बाली, थारे बींद कैसो लावां?' और बालक को कहते हैं—'बाल्या, थारे बींदणी कैसी लावां?' इस प्रकार की विकारजनक बातें बालक-बालिकाओं के कोमल मस्तिष्क में घुस कर उन पर क्या प्रभाव डालती है? इससे वे सोचने लगते हैं कि बालक बींदणी—पत्नी पाने के

लिए और बालिकाएँ बींद—पति प्राप्त करने के लिये ही हुये हैं।

मित्रो ! जरा विचार करो। तुम जिसे प्यार कहते हो—समझते हो, वह प्यार नहीं, संहार है—संतान के जीवन को मिट्टी में मिला देने वाला मन्त्र है। यह तुम्हारा आमोद-प्रमोद नहीं है वरन् बालक-बालिकाओं की स्वाभाविक शक्ति को समूल नष्ट कर देने वाला कुल्हाड़ा है।

मित्रो ! दिल चाहता है, लज्जा के पर्दे को फाड़ कर सारी बातें तुम्हें साफ २ बतला दूं, पर परिस्थिति मना कर रही है।

आजकल की शिक्षा की ओर जब दृष्टिनिपात करते हैं तब और भी निराशा होती है। आधुनिक शिक्षापद्धति खोखली नजर आती है। शिक्षा का ध्येय जीवन-निर्माण अथवा चरित्रगठन होना चाहिए। 'ज्ञानं भार. क्रियां विना।' अर्थात् चरित्रहीन ज्ञान जीवन का बोझ है। आज शिक्षा के नाम पर यही बोझ लादा जा रहा है। आधुनिक शिक्षा-पद्धति इतनी दूषित हो गई है कि उसमें चरित्र का कोई स्थान ही नहीं प्रतीत होता। यही कारण है कि हमारे देश की दुर्दशा हो रही है। हमारे प्राचीन शास्त्रप्रणेताओं ने ज्ञान का फल चारित्र बतलाया है। जिस ज्ञान से चारित्र का लाभ नहीं होता वह ज्ञान निष्फल है—अकारथ है। उससे जीवन का अभ्युदय-साधन नहीं हो सकता।

शिक्षा का विषय स्वतन्त्र है और उस पर यहाँ विस्तार-पूर्वक विवेचन नहीं किया जा सकता। अतएव शिक्षा-पद्धति की चर्चा न उठाते हुए विद्यार्थियों के हाथ मे आने वाली पुस्तकों के सम्बन्ध में ही दो शब्द कहते है। विद्यार्थियों के हाथ में मन बह-लाने के लिये प्रायः उपन्यास और नाटक आते हैं। किन्तु बहुत-से

उपन्यास और नाटक ऐसे क्षुद्र लेखकों द्वारा लिखे गये हैं जिसमें कुत्सित भावनाओं को जागृत करने वाली सामग्री के सिवाय और कुछ नहीं मिलता। जब कभी ऐसी पुस्तक अनजान में हमारे हाथ आ जाती है तब उसे देखकर दिल दहलने लगता है, यह सोच कर कि ऐसी जघन्य पुस्तकें विद्यार्थी-समाज का कितना सत्यानाश करती होंगी ? इन पुस्तकों के भावों को देख कर हृदय मे संताप का पार नहीं रहता।

प्यारे विद्यार्थियो ! अगर तुम अपना जीवन सफल और तेजोमय बनाना चाहते हो तो ऐसी पुस्तकों को कभी हाथ मत लगाना; अन्यथा वे तुम्हारा जीवन मिट्टी मे मिला देंगी। अगर तुम अपने अनुभवशील शिक्षकों से अपने लिये सत्साहित्य का चुनाव करा लोगे तो तुम्हारा बड़ा लाभ होगा। इससे तुम्हारे पथ-भ्रष्ट होने की सम्भावना नहीं रहेगी। तुम्हारा मस्तिष्क गंदगी का खज़ाना नहीं बन पायगा।

भाइयो, तुम्हें सत्पुरुषों की सगति करनी चाहिये। हृदय में धार्मिक भावना भरनी चाहिये। जो बुरे विचार तुम्हारे दिमाग में भर गये हों उन्हें उत्तमोत्तम पुस्तकों का पठन करके दूर कर देना चाहिये।

प्राचीन काल की माताएँ बचपन से ही अपने बालक को सदुपदेश दिया करती थीं। वे मनचाही सन्तति उत्पन्न कर सकती थीं। मार्कण्डेय पुराण में मदालसा का चरित्र वर्णन किया गया है। उससे विदित होता है कि मदालसा अपने पुत्र को आठ वर्ष की उम्र में तपस्या करने के लिए भेजना चाहती थी। उसके जब पुत्र उत्पन्न हुआ तभी से उसने उसे अपने भावों का पाठ पढ़ाना

आरम्भ कर दिया। यही पाठ उसे पालने में लोरियों के रूप में सिखाया गया। गर्भ के संस्कारों से तथा शैशव काल के प्रदत्त संस्कारों के कारण वह पुत्र इतना तेजस्वी और बुद्धिशाली हुआ कि आठ वर्ष की उम्र में संसार त्याग कर वनवासी हो गया। इस प्रकार मदालसा ने अपने सात पुत्रों को तपस्या करने के लिए जंगल में भेज दिया। एक बार राजा ने रानी मदालसा से कहा—'मदालसे, तू सब पुत्रों को जंगल में भेज देती है। मेरा राज्य कौन सम्भालेगा ?'

हँस कर मदालसा ने कहा—नाथ, आप चिन्ता न कीजिये। मैं आपको एक ऐसा पुत्र दूंगी जो महा तेजस्वी महाराजा कहला सकेगा।

मदालसा ने ऐसा ही आठवाँ पुत्र पैदा किया। उसने बड़ी योग्यता के साथ राज्यकाज सम्भाला और प्रजा का पालन किया।

भावना क्या नहीं कर सकती ? 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।' जैसी जिसकी भावना होती है उसे वैसी ही सिद्धि मिलती है।

खेद है कि आज की भावना अत्यन्त मलीन हो रही है। खान-पान बहुत बिगड़ा हुआ है। जिस भोजन को २५–३०–४० वर्ष के मनुष्य करें वही भोजन बच्चे को खिलाया जाता है। क्या बड़ों का और बच्चों का भोजन एक सरीखा हो सकता है ? बड़ों की थाली में चटपटे मसाले वाले शाक आते हैं। क्या वही शाक बालकों के लिये उपयुक्त है ? तले हुए पदार्थ कितनी हानि पहुँचाते हैं यह बात आप लोग जानते होंगे। यह चटपटा और फरफरा भोजन करा कर बालक के ब्रह्मचर्य को आग क्यों

लगाते हो ? बेचारा बालक निसर्गतः अभ्यासी न होने पर भी सी-सी करता हुआ तुम्हारे जरिये चटपटे मसाले खाने का अभ्यासी बनता है। जिन मिर्चों की पीसी हुई लुगदी कुछ घण्टों तक हाथ के चमड़े पर रखने से फुंसियाँ उठ आती हैं, वे मिर्चें पेट में जाकर आंतों को जला कर कितनी निर्बल बनाती होंगी, यह समझना कठिन नहीं है। बालकों के लिये और ब्रह्मचर्य पालने वाले युवकों के लिए चटपटे मसाले हलाहल विष के समान हैं। उनका त्याग करने में ही कल्याण है।

ब्रह्मचर्य की आराधना करने वालों को—शक्ति की उपासना करने वालों को—सात्विक भोजन ही अनुकूल और लाभप्रद होता है; यह आयुर्वेद का मत है। सात्विक भोजन मस्तिष्क की शक्ति बढ़ाने वाला, बुद्धि देने वाला और बल उत्पन्न करने वाला है। डाक्टरों के मत भी आयुर्वेद के इस विधान का अनुमोदन करते हैं।

अच्छा, एक बात आप बताइये। जवाहरात पैरिस में अधिक हैं या हिन्दुस्तान में ? अमेरिका और इंग्लैण्ड में माणिक मोती ज्यादा हैं या भारत में ?

'पैरिस में !'

मगर पैरिस के तथा अमेरिका और इंग्लैण्ड के अनेक स्त्री-पुरुष अपने बालकों को भारत से लाते हैं। उन्हें तो हमने आपकी भांति जवाहरात में लदा हुआ कभी नहीं देखा। इसका क्या कारण है ?

'वे पसन्द नहीं करते !'

वे पसन्द नहीं करते और आप पसन्द करते हैं। हमारे यहाँ आभूषण इतने अधिक पसन्द किये जाते हैं कि जिनके यहाँ सच्चे माणिक मोती नहीं हैं वे बहिनें अपने बच्चों को सिंगारने के लिए खोटे जेवर पहनाती हैं; पर पहनाये बिना नहीं मानतीं। कहीं-कहीं तो लोक-दिखावे के लिए आभूषणों की थोड़े दिनों के लिए भीख मांगी जाती है और उन आभूषणों से हीनता का अनुभव करने के बदले महत्ता का अनुभव किया जाता है। क्या यह घोर अज्ञान का परिणाम नहीं है ? आभूषण न पहनने वाले यूरोपियन क्या हीन दृष्टि से देखे जाते हैं ? फिर आपको ही क्यों अपनी सारी महत्ता आभूषणों में दिखाई देती है ?

आभूषणों से लाद कर बच्चों को खिलौना बनाना आप पसन्द करते हैं, पर उनके भोजन की ओर अक्षम्य उपेक्षा रखते हैं। यह कैसी दोहरी भूल है ? जरा अपने बच्चे का खाना किसी अंग्रेज बच्चे के सामने रखिये। वह तो क्या उसका बाप भी वह भोजन नहीं खा सकेगा, क्योंकि हमारा भोजन इतना चटपटा होता है कि बेचारों का मुँह जल जाय !

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य पालने वालों को अथवा जो ब्रह्मचर्य पालना चाहते हैं उन्हें विलासपूर्ण वस्त्रों से, आभूषणों से तथा आहार से सदैव बचते रहना चाहिये। मस्तिष्क में कुविचारों का अंकुर उत्पन्न करने वाले साहित्य को हाथ भी नहीं लगाना चाहिये। जो पुस्तकें धर्म, देश-भक्ति की भावना जागृत करने वाली और चारित्र को सुधारने वाली होती हैं उनमें सरकार राजनीति की गन्ध सूंघती है और उन्हें जब्त कर लेती है, पर जो पुस्तकें ऐसा गन्दा और घासलेटी साहित्य बढ़ाती हैं, प्रजा

का सर्वनाश कर रही हैं, उनकी ओर से वह सर्वथा उदासीन रहती है। यह कैसी भाग्य-विडम्बना है!

अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी और जापान की सरकार वहाँ के साहित्य पर खूब ध्यान रखती है। वहाँ कुत्सित भावना भरने वाली पुस्तकें विद्यार्थियों के हाथों में नहीं पहुँच सकतीं। यही कारण है कि वहाँ की सन्तान देशभक्त और चारित्रवान है। वहाँ के बालक ऐसी पुस्तकें पढ़ते हैं जिनसे उनकी जातीय भावना सुदृढ़ होती है। सत्साहित्य का जीवन के निर्माण में कितना महत्वपूर्ण स्थान है, यह बात शिवाजी के जीवन से समझी जा सकती है।

शिवाजी किसी राजा-महाराजा के पुत्र नहीं थे। वे एक साधारण सिपाही के लड़के थे। उनकी माता जीजी बाई ने बचपन से ही उन्हें रामायण और महाभारत आदि की कथाएँ सुनाईं। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र तथा पाण्डवों की वीरतापूर्ण पवित्र जीवनियाँ कण्ठस्थ करा दीं। समय पाकर उन्होंने शिवाजी के अन्दर कैसी वीरता और चरित्रनिष्ठा उत्पन्न कर दी, सो आज कौन नहीं जानता? पवित्र कथाओं ने एक साधारण सिपाही के लड़के को महाराजा शिवाजी बना दिया। जनता आज भी उनके नाम से प्रेरणा प्राप्त करती है, उनकी प्रतिष्ठा करती है और उन्हें अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखती है। लोग गाते हैं—

शिवाजी न होते तो सुन्नत होती सब की।

एक बार शिवाजी किसी जंगल की गुफा में बैठे थे। उनका एक सिपाही किसी सुन्दरी स्त्री को जबर्दस्ती उठा लाया। उसने सोचा था—इसे महाराज शिवाजी की भेंट करूँगा तो

महाराज मुझ पर प्रसन्न होंगे। लेकिन जब उस रोती-कलपती हुई रमणी की आवाज शिवाजी के कानों में पड़ी तो वह उसी समय गुफा से बाहर निकल आये। उन्होंने देखते ही सिपाही से कहा–'अरे कायर ! इस बहिन को यहाँ किस लिए लाया है ?'

शिवाजी के मुँह से बहिन शब्द सुनते ही सिपाही चौंक उठा। वह सोचने लगा—'गजब हो गया जान पड़ता है। मैं इसे लाया किस लिए था और होना क्या चाहता है ! चौबेजी छब्बे बनने चले तो दुबे ही रह गये !' सिपाही कुछ नहीं बोला। वह नीची गर्दन किये लज्जित भाव से मौन रहा। शिवाजी ने कड़क कर कहा—जाओ, इस बहिन को पालकी में बिठला कर आदर के साथ इसके घर पहुँचा आओ।'

मित्रो ! एक सच्चे वीर्यशाली और चारित्रवान व्यक्ति के सत्कार्य को देखो। अबलाओं पर दूसरों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का निवारण करना वीर पुरुष का कर्त्तव्य है, न कि उन पर स्वयं अत्याचार करना। इस कथा से तुम बहुत कुछ सीख सकते हो।

शिवाजी का पुत्र शम्भाजी था। वह शिवाजी से ज्यादा वीर-धीर और गम्भीर था परन्तु वह सुरा और सुन्दरी के फेर में पड़ गया था। सुरा अर्थात् मदिरा और सुन्दरी अर्थात् वेश्याओं से उसे बहुत प्रेम हो गया था।

उन दिनों भारत का सम्राट् औरङ्गजेब था। राठौर दुर्गादास एक बार शम्भाजी के पास दक्षिण में आया। शम्भाजी शराब के शौकीन थे ही। उन्होंने एक प्याला भर कर दुर्गादास के सामने किया। दुर्गादास ने कहा—क्षमा कीजिये, मुझे तो इनकी

आवश्यकता नहीं है। मैंने इसे माता के समर्पण कर दिया है और यह अर्ज की है कि माता! तू ही इसे ग्रहण कर सकती है। मुझ मे इसे ग्रहण करने की शक्ति कहाँ!

दुर्गादास ने जो कुछ कहा उससे शम्भाजी रूठ गया। दुर्गादास वहाँ से रवाना होकर शहर के बाहर किसी बगीचे में ठहर गया।

मध्य रात्रि का समय था। चारों ओर वातावरण में निस्तब्धता छाई हुई थी। लोग निद्रा की गोद में बेसुध हो विश्राम कर रहे थे। ऐसे समय मे दुर्गादास को नींद नहीं आ रही थी। वह इधर से उधर करवट बदल रहा था। इसी समय उसके कानों मे एक आर्त्तनाद सुनाई पड़ा। 'हाय! कोई बचाने वाला नहीं है? बचाओ! दौड़ो! रक्षा करो! रक्षा करो! हाय रे!

दुर्गादास तत्काल उठ कर खड़ा हो गया। उसके कानों में फिर वही करुण-क्रन्दन सुनाई दिया। दुर्गादास ने सोचा—'किसी अबला की आवाज जान पड़ती है। चलकर देखना चाहिए, बात क्या है?' इस प्रकार सोच कर वह बाहर निकले। इसी समय एक अबला दौड़ी आई और चिल्लाने लगी—'रक्षा करो! बचाओ!

वीर दुर्गादास (सान्त्वना देते हुए)-बहिन, इधर आ जाओ।

स्त्री को ढाँढस बंधा। वह अन्दर आकर बैठ गई।

कुछ ही समय बीता था कि हाथ में तलवार लिये शंभाजी दौड़ते हुए यहाँ आये। वह बोले—इस मकान में हमारा एक आदमी आया है।

दुर्गादास—शंभाजी, जरा सोच-विचार कर बात करो।

शंभाजी—(पहिचान कर) ओह दुर्गादास ! भाई, तुम्हारे इधर हमारा एक आदमी आया है। उसे हमें लौटा दो।

दुर्गादास—यहाँ कोई आदमी तो आया नहीं है, एक औरत आई है।

शंभाजी—जी हाँ, उसी को तो माँग रहा हूँ।

दुर्गादास—मैं उसे हर्गिज़ नहीं दे सकता। वह मेरी शरण में है।

शंभाजी—तुम्हे उससे क्या प्रयोजन है ?

दुर्गादास—प्रयोजन क्या है ? कुछ भी नहीं। मगर कह रहा हूँ, वह मेरी शरण में आई है। मैं क्षत्रिय हूँ। शरणागत की रक्षा करना मेरा परम धर्म है। तुम क्षत्रिय होकर भी क्या यह नहीं जानते ?

शंभाजी—मैं सब कुछ जानता हूँ। सब कुछ समझता हूँ। परन्तु मेरी चीज़ मुझे लौटा दो वर्ना ठीक न होगा।

दुर्गादास—मैं अपने धर्म से कैसे च्युत होऊँ ?

शंभाजी—तुम्हारे हाथ मे तलवार नहीं है। तलवार होती तो दो हाथ अभी दिखाता।

दुर्गादास व्यंग की हँसी हँस कर बोले—उस अबला के हाथ मे तलवार है, इसलिए तुम उस पर वार करना चाहते हो !

शंभाजी—इतनी धृष्टता ! अच्छा, अपनी तलवार हाथ में लेकर जरा अपना कौशल तो दिखलाओ। आज तुम्हें अपनी शूरवीरता का पता चल जायगा।

दुर्गादास ने अपनी तलवार सँभाली। दोनों की मुठभेड़ हुई। मौका पाकर दुर्गादास ने शंभाजी के हाथ से तलवार छीन ली। उन्होंने कहा—कहो शंभाजी, अब क्या करोगे ?

शंभाजी चुप हो गया। इतने में उसके सिपाही आ पहुँचे। दुर्गादास ने उनके साथ युद्ध करना व्यर्थ समझा। सिपाहियों ने उन्हें बन्दी बना लिया।

शंभाजी का एक यवन मित्र था—कबालीखाँ। यह बादशाह औरंगजेब का भेजा हुआ गुप्तचर था। शंभाजी को पथ-भ्रष्ट कर देना उसका काम था। वह दुश्चरित्रा स्त्रियों को—वेश्याओं को—शम्भाजी के पास लाता था। शंभाजी ऐसे बेभान हो गये थे कि उसे अपना मित्र मानते थे और अपने सच्चे हितैषी दुर्गादास को दुश्मन समझते थे।

औरंगजेब का ढिंढोरा पिटा हुआ था कि दुर्गादास को कैद कर लाने वाले को इनाम दिया जायगा। कबालीखाँ को यह अच्छा अवसर मिला। उसने शंभाजी से कहा—'महाराज! इस बन्दी को मुझे सौंप दीजिए। मैं इसे बादशाह के पास ले जाऊँगा और अच्छा इनाम पाऊँगा।'

शंभाजी ने उसे सौंप दिया। उसने बादशाह को ले जाकर सौंप दिया। बादशाह ने कबालीखाँ को अच्छा इनाम दिया।

बादशाह की बेगम गुलेनार वीर दुर्गादास पर मोहित हो चुकी थी। पर उसे दुर्गादास से मिलने का अभी तक अवसर नहीं मिला था। दुर्गादास को कैद हुआ देख उसे बड़ी खुशी हुई। वह बादशाह से बोली—दुर्गादास मेरा पक्का दुश्मन है। उसे मेरे सिपुर्द कर दीजिये। मैं उसे सीधा करूँगी।

वादशाह गुलेनार की उंगली के इशारे पर नाचता था। उसने दुर्गादास को वेगम के सिपुर्द कर दिया।

वेगम को स्वर्ण-अवसर मिल गया। वह रात्रि के समय सोलहों सिंगार करके जहाँ दुर्गादास कैद था वहाँ पहुँची। अपने साथ वह एक लड़के को लेती गई थी। लड़के के हाथ में नंगी तलवार देकर उसने कहा—देखो, भीतर कोई न आने पावे।

वेगम दुर्गादास के पास जाकर बोली—आपको मैंने तकलीफ दी है। इसके लिए माफ़ कीजिए। मैं आप पर फ़िदा थी, इसीलिए वादशाह को कह-सुन कर आपको कैद करवाया है। आपके कैद होने का यह कारण है कि मैं ऐशो-आराम से आपके साथ रहूँ। आपकी खूबसूरती ने आपको कैद करवाया है। मैं तैयार होकर आई हूँ।

दुर्गादास—मेरी माँ, मुझे क्षमा करो। तुम मेरी माँ के समान हो। मैं पराई स्त्रियों को दुर्गा के समान समझता हूँ। तमाम स्त्रियाँ जगज्जननी का अवतार है। मुझे माफ करो, वेगम!

गुलेनार—जानते हो दुर्गादास, तुम किससे वात कर रहे हो?

दुर्गादास—मैं नारी रूप में एक माता से वात कर रहा हूँ।

गुलेनार—देखो, कहना मानो। सब तकलीफों से छुटकारा पा जाओगे। दिल्ली की यह वादशाहत [illegible] है। मैं इस वादशाह को नहीं चाहती। अगर तुम मे[illegible] तो रात ही रात में वाद[illegible]त्ल करवा [illegible]। लोगे वादशाहत तुम्हारे हा[illegible] जी [illegible]

दुर्गादास—मु[illegible] है। तुम्हारी वादशाह[illegible]

गुलेनार—देखो, खूब समझ-बूझ लो। जैसे बादशाहत देना मेरे हाथ है उसी तरह तुम्हारा सिर उतरवा लेना भी मेरे हाथ की बात है।

दुर्गादास—मुझे बड़ी खुशी होगी अगर मेरा सिर दुर्गारूप तुझ देवी के चरणों में लोटेगा।

दुर्गादास और बेगम के बीच इस प्रकार बातचीत हो रही थी। कार्यवश बादशाह का सिपहसालार उधर होकर जा रहा था। उसने रुक कर दोनों की बातें सुनी तो वह दङ्ग रह गया। दुर्गादास के प्रति उसके दिल में आदर का भाव जागृत हो गया।

बेगम कहीं दुर्गादास की गर्दन न उतार ले, इस भाव से वह भीतर चला गया। दुर्गादास के चरणों में गिर कर उसने कहा—'दुर्गादास, तुम इन्सान नहीं पीर हो; कोई पैगम्बर हो।'

बेगम चौंकी। वह बोली—सिपहसालार, तुम यहाँ कैसे ?

सिपहसालार—इस पैगम्बर को सिर झुकाने के लिए।

गुलेनार—इतनी गुस्ताखी ?

सिपहसालार—यह बदतमीजी ?

गुलेनार—जबान सँभाल ! किससे बात कर रहा है ?

सिपहसालार—मैं सब सुन चुका। अपनी अक्लमंदी रहने दो।

असत्य स्वभावतः निर्बल होता है। बेगम थर-थर काँपने लगी। सेनापति ने दुर्गादास को मुक्त कर दिया और जोधपुर की ओर रवाना करने लगा।

दुर्गादास ने कहा—मैं बादशाह का बन्दी हूँ। तुम मुझे मुक्त कर रहे हो। कदाचित् बादशाह जान गये तो तुम विपदा में पड़ जाओगे। बादशाह तुम्हारा सिर उतार लेंगे।

वादशाह गुलेनार की उंगली के इशारे पर नाचता था। उसने दुर्गादास को बेगम के सिपुर्द कर दिया।

बेगम को स्वर्ण-अवसर मिल गया। वह रात्रि के समय सोलहों सिंगार करके जहाँ दुर्गादास कैद था वहाँ पहुँची। अपने साथ वह एक लड़के को लेती गई थी। लड़के के हाथ में नंगी तलवार देकर उसने कहा—देखो, भीतर कोई न आने पावे।

बेगम दुर्गादास के पास जाकर बोली—आपको मैंने तकलीफ दी है। इसके लिए माफ़ कीजिए। मैं आप पर फ़िदा थी, इसीलिए बादशाह को कह-सुन कर आपको कैद करवाया है। आपके कैद होने का यह कारण है कि मैं ऐशो-आराम से आपके साथ रहूँ। आपकी खूबसूरती ने आपको कैद करवाया है। मैं तैयार होकर आई हूँ।

दुर्गादास—मेरी माँ, मुझे क्षमा करो। तुम मेरी माँ के समान हो। मैं पराई स्त्रियों को दुर्गा के समान समझता हूँ। तमाम स्त्रियाँ जगज्जननी का अवतार हैं। मुझे माफ करो, बेगम!

गुलेनार—जानते हो दुर्गादास, तुम किससे बात कर रहे हो?

दुर्गादास—मैं नारी रूप में एक माता से बात कर रहा हूँ।

गुलेनार—देखो, कहना मानो। सब तकलीफों से छुटकारा पा जाओगे। दिल्ली की यह बादशाहत मेरे हाथ में है। मैं इस बादशाह को नहीं चाहती। अगर तुम मेरा कहना मान लोगे तो रात ही रात में बादशाह को कत्ल करवा डालूँगी। दिल्ली की बादशाहत तुम्हारे हाथ में होगी।

दुर्गादास—मुझे इस प्रकार बादशाहत की जरूरत नहीं है। तुम्हारी बादशाहत तुम्हीं को मुबारिक हो।

गुलेनार—देखो, खूब समझ-बूझ लो। जैसे बादशाहत देना मेरे हाथ है उसी तरह तुम्हारा सिर उतरवा लेना भी मेरे हाथ की बात है।

दुर्गादास—मुझे बड़ी खुशी होगी अगर मेरा सिर दुर्गारूप तुझ देवी के चरणों में लोटेगा।

दुर्गादास और बेगम के बीच इस प्रकार बातचीत हो रही थी। कार्यवश बादशाह का सिपहसालार उधर होकर जा रहा था। उसने रुक कर दोनों की बातें सुनी तो वह दङ्ग रह गया। दुर्गादास के प्रति उसके दिल में आदर का भाव जागृत हो गया।

बेगम कहीं दुर्गादास की गर्दन न उतार लें, इस भाव से वह भीतर चला गया। दुर्गादास के चरणों में गिर कर उसने कहा—'दुर्गादास, तुम इन्सान नहीं पीर हो; कोई पैगम्बर हो।'

बेगम चौंकी। वह बोली—सिपहसालार, तुम यहाँ कैसे ?

सिपहसालार—इस पैगम्बर को सिर झुकाने के लिए।

गुलेनार—इतनी गुस्ताखी ?

सिपहसालार—यह बदतमीजी ?

गुलेनार—जबान सँभाल ! किससे बात कर रहा है ?

सिपहसालार—मैं सब सुन चुका। अपनी अक्लमंदी रहने दो।

असत्य स्वभावतः निर्बल होता है। बेगम थर-थर काँपने लगी। सेनापति ने दुर्गादास को मुक्त कर दिया और जोधपुर की ओर रवाना करने लगा।

दुर्गादास ने कहा—मैं बादशाह का बन्दी हूँ। तुम मुझे मुक्त कर रहे हो। कदाचित् बादशाह जान गये तो तुम विपदा में पड़ जाओगे। बादशाह तुम्हारा सिर उतार लेंगे।

सेनापति—आप निश्चिन्त रहे। मेरा सिर उतारने वाला कोई नहीं।

इधर दुर्गादास रवाना हुआ और उधर बेगम गुलेनार ने जहर का प्याला पीकर अपने प्राण त्यागे।

बादशाह को सब समाचार मिले। उसने शम्भाजी को कैद कर बुलाया। अन्त मे शम्भाजी बड़ी बुरी तरह मारा गया।

मेरे प्यारे मित्रो! आपने इस वृत्तान्त में क्या सुना? एक ओर सुरा और सुन्दरी की उपासना करने वाले शम्भाजी की कुमौत और दूसरी ओर चरित्रनिष्ठ वीर दुर्गादास की आत्मविजय!

इस शराब-राक्षसी ने क्या-क्या अनर्थ किये हैं और इसमें कितने दुर्गुण भरे पड़े हैं, यह बात आप उमरदान की कविता में सुनिये:—

रोग को भवन जो कुजोग तोय मन जानो,
दया को दमन है गवन गरवाई को।
विद्या को विनाशकारी ततछन त्रासकारी,
हिम्मत को हासकारी भैरु भरवाई को।
उमर विचार सीख पाप रिखि श्राप्न को,
विषय विष व्यापन को पौन पुरवाई को।
भगतनि को भाई श्री कसाई निज कामिनी को,
शत्रु सुखदाई सुरा हेतु हरवाई को॥
पीथल१ को खेत पार्यो अहमद२ को मान मार्यो,
बुद्धसिंह३ को बिगारयो नीके निरधारो मैं।

१ पृथ्वीराज चौहान। २ अहमदाबाद का सुल्तान मुहम्मद बेगड़ा।
३ बूँदी-नरेश।

भूप बिन जेत१ खोयो २डूँगरसिंह को डुबोयो,
जोर३ को मरन जोयो हिये मांझ हारो मैं ॥
तखत४ को कीनो तन लखन५ को मृत्यु संग,
कोटापति६ को अपंग उमर उतारो मैं ।
तोपपोप ओस माह काहे अफसोस कोस,
हाय दारू तेरे दोष कहाँ लौं बखानूं मैं ॥

सुरा-पिशाचिनी ने अनेक राजों-महाराजों और सरदारों के कलेजे चूस लिये हैं। इस पिशाचिनी की बदौलत कई-एक अकाल में ही मृत्यु के मुँह में चले गये हैं। हे क्षत्रिय-पुत्रो! जिस राक्षसी ने तुम्हारे वीरों का शिकार किया, क्या उसका तुम आदर करोगे? इस राक्षसी को ठोकर मारो और दुनिया में इसका नामनिशान मिटा डालो।

आज अमेरिका वाले कानून बनाकर इसे रोक रहे हैं। अगर इसके सेवन से किसी प्रकार का लाभ होता तो वे लोग इसे रोकने के लिए कानून का आश्रय क्यों लेते? वे लोग जिस वस्तु को हानिकारक समझते हैं उसे रोकने का और जिसे अच्छा समझते हैं उसे ग्रहण करने का उद्योग करते हैं। उनका यह गुण हमें सीखना चाहिए।

मित्रो! जिस प्रकार शराब हानिकारक है, उसी प्रकार मांस भी हानिकारक है। यह दोनों वस्तुएँ ब्रह्मचर्य के पालन में बाधक हैं। मनुस्मृति में मनुजी ने आदेश दिया है 'कि किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए और न मांस-भक्षण ही करना चाहिए।'

मांस खाने से बुद्धि ठीक नहीं रहती। यूरोप में इसकी परीक्षा की गई थी। पाँच हजार विद्यार्थी शाकाहार पर और

१ जोधपुर का उमराव [illegible]। २ यह भी जोधपुर का उमराव है। ३ जोरावरसिंह—जोधपुर का उमराव। ४ जोधपुर नरेश। ५ उदयपुर के महाराणा। ६ कोटा नरेश [illegible]।

पाँच हजार मांसाहार पर रक्खे गये थे। छः महीने बाद इस प्रयोग का परिणाम प्रकट किया गया तो मालूम हुआ कि शाकाहारी विद्यार्थी बुद्धिमान्, तेजस्वी और नीरोग रहे और मांसाहारी इससे विपरीत सिद्ध हुए।

मनुष्य निसर्गतः मांसाहारी प्राणी नहीं है। मांसाहारी प्राणियों के नाखून पैने और दाँत नुकीले होते हैं और शाकाहारियो के चपटे। मांसाहारी प्राणी जीभ से चपचप करते हुए पानी पीते हैं और शाकाहारी होठों से। ऐसी अनेक भिन्नताएँ हैं, जिनसे मालूम होता है कि मनुष्य मांसाहारी प्राणियों की कोटि मे कदापि नहीं रक्खा जा सकता। अतएव मांस-भक्षण करना मनुष्य के लिए प्रकृति-विरुद्ध है। लेकिन मनुष्य अपने विवेक को तिलांजलि देकर सर्वभक्षी बन गया है। खान-पान के विषय मे मनुष्य पशुओ से भी गया-बीता है। पशु अपनी प्रकृति के अनुसार आहार लेता है पर मनुष्य मास आदि सभी कुछ खा जाता है! इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्य प्रकृति-विरुद्ध व्यवहार करने के कारण ही पशुओं की अपेक्षा बहुत अधिक परिमाण में बीमारियों का शिकार बनता है। ब्रह्मचर्य-पालन के लिए प्रकृति के अनुकूल आहार-विहार की अत्यन्त आवश्यकता है। जो प्रकृति के अनुसार चलेगा—वही सुखी होगा—वही कल्याण का पात्र होगा।*

भीनासर

७—८—२७

*बीकानेर के नोबिल स्कूल (राजकुमार विद्यालय) के छात्रों के समक्ष दिया गया भाषण। (सम्पादक)

रक्षा-बन्धन

प्रार्थना
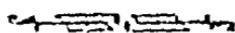
विमल जिनेश्वर सेविए, थारी बुद्धि निर्मल हो जाय रे।
जीवा विषय-विकार विसारने, तू मोहनी कर्म खपाय रे॥
जीवा विमल जिनेश्वर सेविए॥

विमलनाथ भगवान् की यह प्रार्थना है। इस प्रार्थना में संसारी जीव अपने पापकर्मों द्वारा कहाँ २ भटकता और कैसे-कैसे कष्ट पाता है, इसका वर्णन भी आ गया है। इसी वर्णन में नरक का भी उल्लेख किया गया है।

जो मनुष्य हिंसा आदि क्रूर कर्म करते हैं, उन्हें नरक की महा यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। नरक में कैसे-कैसे दुःख दिये जाते हैं, पापी प्राणियों को किस-किस प्रकार के घोरतर कष्ट भोगने पड़ते हैं, इसका वर्णन सुनने मात्र से ही सहृदय मनुष्यों को कँपकँपी छूटने लगती है—रोमाञ्च हो आता है।

पापी प्राणी पाप से भयभीत हों और समस्त जीवों को सुख की प्राप्ति हो, इस आशय से ज्ञानियों ने नरक की स्थिति का

वर्णन किया है। बुद्धिमान् पुरुष नरक का स्वरूप समझ कर उससे बचने का उपाय करे।

नरक का वर्णन करते हुए ज्ञानियों ने नारक जीवों के कष्टों का विस्तार से वर्णन किया है। यहाँ समग्र वर्णन करने का अवसर नहीं है। वहाँ पापी प्राणियों के ऊपर विकराल कुत्ते छोड़कर उनका शरीर नुचवाया जाता है। निर्दयता पूर्वक शस्त्रों का प्रहार किया जाता है। गिद्ध आदि पक्षियों से आँखें निकलवाई जाती हैं।

इसके अतिरिक्त नारक जीव आपस में ही बुरी तरह लड़ते-झगड़ते हैं और एक दूसरे को घोर से घोर कष्ट पहुँचाता है। कष्टों की यह परम्परा सदा जारी रहती है।

इन ऊपरी-कष्टों के अतिरिक्त नरक की भूमि भी महान् कष्टकारक है। वहाँ की भूमि का स्पर्श करते ही इतना दुःख होता है मानो एक हजार बिच्छुओं ने काट खाया हो। वहाँ की सर्दी-गर्मी असह्य है। भूख-प्यास का कष्ट वर्णनातीत है।

पापी जीव इन सब यातनाओं से महा दुःखी होकर करुण आर्त्तनाद करते हैं पर उनकी कोई नहीं सुनता। जब वे प्यास के मारे व्याकुल हो जाते हैं तब उन्हें पिघला हुआ गरमागरम सीसा पिलाया जाता है। निरन्तर कष्ट भोगते-भोगते जीव जब क्षण भर के लिए विश्रान्ति लेने की प्रार्थना करता है तब नरक के देवता कहते हैं—'अरे पापी! तुझे लाज नहीं आती विश्राम माँगते! जरा अपने पुराने पापों को तो स्मरण कर। उस समय विश्राम नहीं किया—दौड़-दौड़ कर उत्साह के साथ पापाचरण किया, अब विश्रान्ति चाहिए?' इस प्रकार कहकर देवता फिर प्रहार करना आरंभ कर देते हैं।

आह ! नरक का यह कैसा भयावना दृश्य है ! फिर भी मनुष्य अपनी मोह-रूपी निद्रा को नहीं त्यागते ! वे लोग जिन बुरे कामों को हँसते-हँसते, खेल-कूद में कर डालते हैं, जिन कार्यों को मजाक समझ कर किया जाता है वही कार्य जब भयकर रूप धारण करके शैतान के रूप में सामने आता है, तो मनुष्य कातर बन जाता है। उस समय उसकी स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है। उस समय अपने कामों के लिए पश्चात्ताप करने पर भी फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता।

मित्रो ! यह हमारे लिए कितने सौभाग्य की बात है कि ज्ञानियों के अनुभव द्वारा लिखे शास्त्र हमें पहले से सावधान रहने के लिए चेतावनी दे रहे हैं। जिनके कान हैं वे ज्ञानियों की चेतावनी सुनें। अगर नहीं सुनेंगे तो फिर पश्चात्ताप ही पल्ले पड़ेगा।

आदमी सौ बार कुपथ्य का सेवन कर ले और उसका बुरा नतीजा उसे मिल जाय। बाद में वैद्य या प्रकृति कुपथ्य सेवन न करने के लिए उसे सावधान कर दे, फिर भी वह न माने तो दोष किसका गिना जायगा ? उस न मानने वाले मनुष्य का ही। इसी प्रकार हमारे दुःखों के कारणों को शास्त्र स्पष्ट-रूप से बतला रहा है। अगर हम उन कारणों से नहीं बचे तो यह हमारा ही दोष होगा। जो इन कारणों को समझ कर बचने का प्रयत्न करेगा, वह बच सकेगा और उसकी आत्मा की रक्षा अवश्य होगी।

मित्रो ! आज रक्षाबन्धन का त्यौहार है। आप सब लोगों ने रक्षा-राखी-बँधवाई होगी, पर आपको यह भी पता है कि रक्षाबन्धन का त्यौहार कब से और किस आशय से चला

है ? रक्षाबन्धन के इस त्यौहार को धर्म-ग्रन्थों ने जुदे-जुदे कारणों से प्रचलित हुआ बतलाया है। कारण कोई कुछ भी क्यों न बतावे, पर यह निश्चित है कि यह त्यौहार भारत-भर में, इस छोर से उस छोर तक मनाया जाता है। एक छोटे से गाँव में जिस उल्लास के साथ मनाया जाता है उसी उल्लास के साथ बड़े-बड़े शहरों में भी मनाया जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रक्षाबन्धन के दिन कोई ऐसी घटना घटी होगी जिसका प्रभाव समग्र भारतवर्ष में व्यापक रूप से पड़ा होगा। उसी घटना के स्मारक रूप में इस त्यौहार की प्रतिष्ठा हुई है। यह त्यौहार अकेले ब्राह्मण, अकेले क्षत्रिय, अकेले वैश्य या अकेले शूद्र ही नहीं मानते वरन् चारों वर्णों के लोग समान भाव से मानते हैं। वास्तव में आर्य जनता ने इस त्यौहार को प्रचलित कर एक बड़ा भारी काम किया है।

भिन्न-भिन्न धर्मों के साहित्य में रक्षाबन्धन के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न घटनाओं का उल्लेख मिलता है। इन विभिन्न घटनाओं में कौनसी अधिक महत्वपूर्ण है और कौन नहीं, इस चर्चा की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो यही बताना उपयोगी होगा कि इन घटनाओं से क्या शिक्षा ग्रहण की जा सकती है?

रक्षाबन्धन के त्यौहार के विषय में हिन्दू शास्त्रों में जो कथा लिखी हुई है, उसका संक्षेप इस प्रकार है:—

राजा बलि दैत्यों का राजा था। उसने दान, यज्ञ आदि क्रियाओं से अपने तेज की इतनी वृद्धि की कि देवराज इन्द्र भयभीत हो गया। उसने सोचा—'अपने तेज के प्रभाव से बलि इन्द्रासन पर बैठ जायगा और मुझे इन्द्र पद से भ्रष्ट कर देगा।'

इन्द्र ने अपने बचाव का उपाय खोजा। जब उसे कोई कारगर उपाय नजर न आया तो वह विष्णु भगवान् की शरण गया। विष्णु भगवान् से उसने प्रार्थना की—'प्रभो! रक्षा कीजिये। दैत्य हमें दुःख दे रहे हैं। वे हमारा राज्य छीनना चाहते हैं।' विष्णु भगवान ने इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार की। उन्होंने वामन रूप धारण किया और वे बलि के द्वार पर जा पहुँचे। राजा बलि अति दानी था मगर साथ ही अभिमानी भी था। विष्णु ने दान की याचना की। बलि ने कहा—कहो, क्या माँगते हो?

वामन—विष्णु बोले—रहने के लिए सिर्फ साढ़े तीन पैर जमीन।

बलि ने उनके ५२ अङ्गुल के छोटे स्वरूप को देख कर हँसते हुए कहा—इतना ही क्या माँगा? कुछ तो और माँगते।

वामन—इतना दे दोगे तो बहुत है।

राजा बलि ने स्वीकृति दे दी। विष्णु ने अपने वामनरूप की जगह विशालरूप धारण किया। उन्होंने अपनी तीन लम्बी डगों में स्वर्ग, नरक और पृथ्वी—तीनों लोक नाप लिए। इसके बाद बलि से कहा—तीन पैर तो हो गये, अब आधे पैर-भर जमीन और दे!

बेचारा बलि किंकर्त्तव्यमूढ़ हो रहा। वह और जमीन कहाँ से लाता। परिणाम यह हुआ कि वह अधिक जमीन न दे सका। तब विष्णु ने उसके सिर पर पैर रखकर उसे पाताल में भेज दिया।

इस प्रकार दैत्यों द्वारा होने वाले उपद्रवों को मिटाकर विष्णु ने भारत-भूमि को सुरक्षित बनाया।

जैन शास्त्रों में इस त्यौहार की कथा इस प्रकार है:—

विष्णुकुमार नाम के एक जैन मुनि बड़े तेजस्वी और महापुरुष थे। इनके समय में चक्रवर्त्ती राजा का राज्य था। उनके प्रधान का नाम नमूची था। राजा ने वचनवद्ध होकर एक बार सात दिन के लिए राज्य के समस्त अधिकार नमूची को दे दिये। नमूची कट्टर नास्तिक और प्रबल द्वेपी था। उसे साधु शब्द से भी चिढ़ होती थी। वह अपने राज्य में से समस्त साधुओं को निकालने लगा। साधु बड़े संकट में पड़े। तब विष्णुकुमार मुनि नमूची के पास गये और बोले—भाई, अन्य साधुओं को अपने राज्य में रहने दे या न रहने दे; परन्तु मैं तो राजा का भाई हूँ। कम से कम मुझे तो साढ़े तीन पैर जमीन रहने के लिए दे दे।

नमूची ने कहा—मैं साधु मात्र से घृणा करता हूँ। अपने राज्य में एक भी साधु को रहने देना नहीं चाहता। पर तुम राजा के भाई हो अतएव तुम्हें साढ़े तीन पैर जमीन देता हूँ।

नमूची के वचन देने पर विष्णुकुमार मुनि ने अपनी विशिष्ट विक्रिया शक्ति से तीन पैरों में ही तीनों लोक नाप लिये। बाकी ज़मीन न बचने से अन्त में नमूची के प्राणों का अन्त हुआ और साधुओं के कष्ट निवारण में सम्पूर्ण भारत में खुशी मनाई गई।

आपने हिन्दू शास्त्रों और जैन शास्त्रों की कथाएँ सुनीं। दोनों कथाओं में कितनी समानता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। विष्णु ने दैत्य राजा का विनाश कर इन्द्र की रक्षा की और जैन कथा के अनुसार विष्णुकुमार ने नमूची को दण्ड देकर साधुओं की रक्षा की। परन्तु मैं इन दोनों कथाओं में प्रतिध्वनित होने वाला रूपक आध्यात्मिक दृष्टि से घटाता हूँ।

इन्द्र का अर्थ है—आत्मा। इन्दतीति-इन्द्रः—आत्मा। इस प्रकार अनेक स्थलों पर आत्मा के अर्थ में इन्द्र शब्द का प्रयोग किया गया है। इस इन्द्र (आत्मा) को अहंकार रूपी दैत्य हराता है। तब इन्द्र घबराकर आत्मबल रूपी विष्णु से प्रार्थना करता है—त्राहि माम् त्राहि माम्-मेरी रक्षा करो—मुझे बचाओ। मेरी नैया पार लगाने वाले तुम्हीं हो। आत्मबल अपनी विशेष शक्ति रूप पैर फैला कर स्वर्ग, नरक और पृथ्वी को नाप लेता है। जब आधे की आवश्यकता और रहती है तब सिद्ध स्थान प्राप्त कर, आनन्द कर देता है।

इस रूपक का विशेष खुलासा ॐकार के साथ होता है। इसकी विशेष व्याख्या करने का समय नहीं है। ॐकार में साढ़े तीन मात्राएँ हैं। तीन मात्रा में स्वर्ग, नरक एवं पृथ्वी का समावेश हो जाता है। शेष आधी मात्रा में सिद्धशिला पर पहुँचने को मिलता है।

रक्षाबन्धन का व्यावहारिक अर्थ क्या है, यह बतला देना आवश्यक है। यद्यपि सभी लोग लम्बे-लम्बे हाथ करके राखी बँधवा लेते हैं, पर इसका वास्तविक रहस्य समझने वाले बहुत कम मिलेंगे।

राखी कई प्रकार की होती है। सोने की, चाँदी की, रेशम की और साधी रुई की भी राखी बनती है। राखी प्रायः बहिन भाई को बाँधती है और स्त्री पुरुष को बाँधती है। उसके उपलक्ष्य में भाई, बहिन को और पुरुष, स्त्री को सामान की वस्तु भेंट करता है। यह इस त्यौहार का प्रचलित रूप है। अतः रक्षाबन्धन के वास्तविक तथा व्यावहारिक अर्थ को जानने के लिए प्राचीन काल के

जैन शास्त्रों मे इस त्यौहार की कथा इस प्रकार है:—

विष्णुकुमार नाम के एक जैन मुनि बड़े तेजस्वी और महापुरुष थे। इनके समय मे चक्रवर्त्ती राजा का राज्य था। उनके प्रधान का नाम नमूची था। राजा ने वचनबद्ध होकर एक बार सात दिन के लिए राज्य के समस्त अधिकार नमूची को दे दिये। नमूची कट्टर नास्तिक और प्रबल द्वेषी था। उसे साधु शब्द से भी चिढ़ होती थी। वह अपने राज्य मे से समस्त साधुओं को निकालने लगा। साधु बड़े संकट में पड़े। तब विष्णुकुमार मुनि नमूची के पास गये और बोले—भाई, अन्य साधुओ को अपने राज्य में रहने दे या न रहने दे; परन्तु मैं तो राजा का भाई हूँ। कम से कम मुझे तो साढ़े तीन पैर जमीन रहने के लिए दे दे।

नमूची ने कहा—मैं साधु मात्र से घृणा करता हूँ। अपने राज्य में एक भी साधु को रहने देना नहीं चाहता। पर तुम राजा के भाई हो अतएव तुम्हें साढ़े तीन पैर जमीन देता हूँ।

नमूची के वचन देने पर विष्णुकुमार मुनि ने अपनी विशिष्ट विक्रिया शक्ति से तीन पैरो में ही तीनो लोक नाप लिये। बाकी जमीन न बचने से अन्त में नमूची के प्राणों का अन्त हुआ और साधुओं के कष्ट निवारण से सम्पूर्ण भारत मे खुशी मनाई गई।

आपने हिन्दू शास्त्रों और जैन शास्त्रों की कथाएँ सुनीं। दोनो कथाओं में कितनी समानता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। विष्णु ने दैत्य राजा का विनाश कर इन्द्र की रक्षा की और जैन कथा के अनुसार विष्णुकुमार ने नमूची को दण्ड देकर साधुओं की रक्षा की। परन्तु मैं इन दोनो कथाओं से प्रतिध्वनित होने वाला रूपक आध्यात्मिक दृष्टि से घटाता हूँ।

इन्द्र का अर्थ है—आत्मा। इन्द्रतीति—इन्द्रः—आत्मा। इस प्रकार अनेक स्थलों पर आत्मा के अर्थ में इन्द्र शब्द का प्रयोग किया गया है। इस इन्द्र (आत्मा) को अहंकार रूपी दैत्य हराता है। तब इन्द्र घबराकर आत्मबल रूपी विष्णु से प्रार्थना करता है—त्राहि माम त्राहि माम—मेरी रक्षा करो—मुझे बचाओ। मेरी नैया पार लगाने वाले तुम्हीं हो। आत्मबल अपनी विशेष शक्ति रूप पैर फैला कर स्वर्ग, नरक और पृथ्वी को नाप लेता है। जब आधे की आवश्यकता और रहती है तब सिद्ध स्थान प्राप्त कर, आनन्द कर देता है।

इस रूपक का विशेष खुलासा ॐकार के साथ होता है। इसकी विशेष व्याख्या करने का समय नहीं है। ॐकार में साढ़े तीन मात्राएँ हैं। तीन मात्रा में स्वर्ग, नरक एवं पृथ्वी का समावेश हो जाता है। शेष आधी मात्रा में सिद्धशिला पर पहुंचने को मिलता है।

रक्षाबन्धन का व्यावहारिक अर्थ क्या है, यह बतला देना आवश्यक है। यद्यपि सभी लोग लम्बे-लम्बे हाथ करके राखी बँधवा लेते हैं, पर इसका वास्तविक रहस्य समझने वाले बहुत कम मिलेंगे।

राखी कई प्रकार की होती है। सोने की, चाँदी की, रेशम की और सादी रुई की भी राखी बनती है। राखी प्रायः बहिन भाई को बांधती है और स्त्री पुरुष को बांधती है। उसके उपलक्ष्य में भाई, बहिन को और पुरुष, स्त्री को सम्मान की वस्तु भेंट करता है। यह इस त्योहार का प्रचलित रूप है। मगर रक्षाबन्धन के वास्तविक व्यावहारिक अर्थ को जानने के लिए प्राचीन काल के

वृत्तान्त देखने की आवश्यकता है। प्राचीन समय में रक्षाबन्धन सचमुच ही रक्षा का बन्धन था। जो पुरुष अपने हाथ पर रक्षा बँधवा लेता था वह रक्षा के बँधन में बँध जाता था। राखी बाँधने वाले की रक्षा का भार उस पर आ पड़ता था। उस समय राखी इतनी पवित्र वस्तु मानी जाती थी कि उसे बँधवाने वाला अपने सर्वस्व को यहाँ तक कि प्राणों को भी निछावर करके राखी बाँधने वाले की रक्षा करना अपना परम कर्त्तव्य समझता था।

राखी बाँधते समय यह श्लोक बोलकर बँधवाने वाले का ध्यान रक्षा की ओर आकर्षित किया जाता था।

येन बद्धो बलि राजा, दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन त्वा प्रतिबध्नामि, रक्षे मा चल मा चल॥

रक्षा का डोरा साधारण डोरा नहीं है। यह ऐसा बन्धन है कि उसमें बँध जाने के पश्चात् फिर कर्त्तव्य से विमुख होकर छुटकारा नहीं मिल सकता। रक्षा के बन्धन से सिर्फ हाथ ही नहीं बँधता मगर वह हृदय का बन्धन है, वह आत्मा का बन्धन है, वह प्राणों का बन्धन है, वह कर्त्तव्य का बन्धन है, वह धर्म का बन्धन है! राखी के उस साधारण से प्रतीत होने वाले बंधन में कर्त्तव्य की कठोरता बँधी है, सर्वस्व का उत्सर्ग बँधा है। राखी बँधवाने वाले को प्राण तक अर्पण करने पड़ते हैं।

नागौर (मारवाड़) के राजा के राज्य पर एकबार बादशाह ने चढ़ाई की। उनकी पुत्री ने अपने पिता से आज्ञा लेकर एक क्षत्रिय को भाई बनाने के लिए राखी भेजी। यद्यपि उस क्षत्रिय का नागौर के राजा से मनमुटाव था, दोनों में परस्पर शत्रुता थी; फिर भी वह राखी का तिरस्कार नहीं कर सका।

राखी का तिरस्कार करना अपनी वीरता का तिरस्कार करना है, अपने कर्त्तव्य की अवहेलना करना है, पवित्र मर्यादा का अतिक्रमण करना है और कायरता का प्रकाश करना है। यह सोचकर क्षत्रिय ने राखी स्वीकार कर ली। बादशाह ने जब नागौर पर चढ़ाई की तब उस वीर क्षत्रिय ने अपनी बहादुर सेना के साथ बादशाह की सेना पर धावा बोल दिया।

बादशाह की फौज पराजित हुई। नागौर के राजा ने उस क्षत्रिय का उपकार माना। दोनो का विरोध शान्त हुआ। नागौर-पति ने अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर देना चाहा। जब कन्या के पास यह संवाद पहुँचा तो उसने कहा—वह मेरे भाई है। मैंने राखी भेज कर उन्हें अपना भाई बनाया है। भाई के साथ बहिन का विवाहसंबंध कैसे हो सकता है?

रक्षा-बन्धन के साथ उत्तरदायित्व का बन्धन किस प्रकार आता है, यह समझने के लिए यह एक घटना आपके सामने उपस्थित की गई है। भारतीय इतिहास में इस प्रकार की अनेक घटनाएँ घटी हैं। तात्पर्य यह है कि पहले जमाने की राखी रक्षा करने के लिए होती थी।

आज महाजन अपनी बहियों को, चौपड़ियों को, दावात को, कलम को, तराजू को, बाँटों को—व्यापार के सभी उपकरणों को राखी बाँधते-बँधाते हैं, पर अनेक भाई रक्षा को बाँध कर उसको 'भक्षा' बना डालते हैं। इन वस्तुओं पर रक्षा बाँधने का अभिप्राय तो यह होना चाहिए कि बहियों में झूठा जमा-खर्च न लिखा जाय, कलम के द्वारा झूठी इबारत न लिखी जाय, तराजू से कम ज्यादा न तोला जाय, बाँट खोटे न हों, आदि। पर आज

यह सब कुछ हो रहा है। बहियों में खोटा जमा-खर्च लिख कर,
जाली दस्तावेज बना कर, झूठी गवाही दिला कर, अन्याय से-
धोखे से-दस्तखत करा कर और तराजू से कम-ज्यादा तोल कर,
तथा इस प्रकार की अन्य कार्रवाई करके प्रामाणिकता का अन्त
कर रहे हैं।

जैसे बहिन भाई और स्त्री पुरुष, आपस में रक्षा का संबंध
जोड़ते हैं, उसी प्रकार राजा और प्रजा में भी रक्षा सम्बन्ध जोड़ा
जाता था।

राजा और प्रजा के इस मधुर सम्बन्ध के समय राजा
प्रत्येक सम्भव उपाय से प्रजा की सुख-शान्ति के लिए, प्रजा के
अभ्युदय के लिए चेष्टा करता था। वह प्रजा के सुख को ही राज्य
की सफलता की कसौटी समझता था। उसके समस्त कार्यों का
मुख्य और एकमात्र ध्येय यही होता था कि प्रजा किस प्रकार
अधिक से अधिक सुखी, समृद्ध और सम्पन्न हो। प्रजा की रक्षा
करना राजा का प्रधान कर्त्तव्य था। राजा जब इस प्रकार से
वर्त्ताव करता था, प्रजा का अपने को सेवक समझता था, तब
प्रजा भी सब प्रकार मे राजा की सेवा के लिए तैयार रहती थी।
आज यह सब बातें कहने-सुनने के लिए रह गई है। आज राजा
स्वार्थान्ध होकर प्रजा को चूसना चाहता है, इसलिए प्रजा राजा
का अन्त करने का उद्योग कर रही है। दोनों एक दूसरे के विरोधी
बन गये हैं।

आज भी प्रत्येक हिन्दू राजा के राज-भण्डार में राखी
बाँधी जाती है। इसी प्रकार शस्त्रों में, रथों मे, घोड़े को, हाथी को
और इसी प्रकार से अन्य वस्तुओं को राखी बाँधने की परम्परा

चल रही है। मगर आज इसका आशय क्या समझा जाता है, भगवान् ही जाने। पहले राज-भण्डार में राखी बाँधने का आशय यह था कि भण्डार में अन्याय का धन न आने पावे। गरीब प्रजा की गाढ़ी कमाई के पैसों से राज-कोष न भरा जाय। शस्त्रों को राखी बाँधने का आशय था—शस्त्रों द्वारा देश की समुचित प्रकार से रक्षा की जाय। रथ-घोड़ों आदि को राखी बाँधने का प्रयोजन था—इन सब में वृथा व्यय न किया जाय—आवश्यकता से अधिक इन वस्तुओं का संग्रह ऐश्वर्य या विलास के उद्देश्य से न किया जाय। प्रजा के धन का किसी भी प्रकार अनावश्यक खर्च न किया जाय।

मित्रो ! आज समय पलट गया है। अब बहुत-सी बातें उलटी हो गई हैं। अन्तरूपी ठोस काम के बदले दिखावटी और थोथी बातें हो रही हैं। राखी के संबंध में भी यही हुआ है। राखी की भी ऐसी ही दुर्दशा हुई है। वह या तो परम्परा का पालन करने के लिए बाँधी-बँधाई जाती है या लोक दिखावे के लिए ! दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आज राखी का जीवन-तत्त्व निकल गया है और केवल निष्प्राण शरीर रह गया है। राखी अब सूत का धागा मात्र है—उसमें से कर्त्तव्य और धर्म की भावना चली गई है।

एक पवित्र प्रणालिका का सार-तत्त्व चला जाय और वह निर्जीव—जड़ मात्र अवशेष रह जाय तो क्या संताप नहीं होना चाहिए ? निस्सन्देह यह सन्ताप की बात है। आपके हृदय में अगर संताप हो तो आप उसमें पुनः जीवन लाने का प्रयत्न करें।

बहुत से ब्राह्मण आज यजमान को सिर्फ पैसे के लिए राखी बाँधते हैं। प्राचीन काल के ब्राह्मणों की रक्षा पैसों की नहीं,

धन-दौलत की नहीं, कल्याण कामना की थी। उस समय न केवल ब्राह्मण ही, वरन् क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी परस्पर राखी बाँधते थे। आज जैसी घृणा पहिले के समय में नहीं थी।

आज बहुत से भाई 'पखाल' बनाने वालों से घृणा करते हैं। मैं पूछना चाहता हूँ, आप लोगों में से कितने ऐसे है जिनके पेट में पखाल का पानी नहीं है? आप सभी के पेट में पखाल का पानी मौजूद है। तो आप पखाल का प्रयोग करते है, पखाल से प्रेम करते हैं, पर पखाल बनाने वाले से प्रेम नहीं करना चाहते। हाय हाय! यह कैसी विपरीत बुद्धि है! आप जूते पहन कर पैरों को सर्दी–गर्मी और काँटों-कीचड़ से बचाना चाहते हैं, उसके लिए जूतों को चाहते है पर जूते बनाने वालों को नहीं चाहते! क्या कहूँ, प्यारे मित्रो! जितना जूतों को चाहते हो, उतना ही जूता बनाने वालों को न चाहो, तो यह मनुष्यता का घोर अपमान है। मानव-जीवन के प्रति यह अक्षम्य अपराध है। इस तथ्य को समझो। उनसे प्रेम करो, उनके साथ सद्व्यवहार करो। उन्हें राखी बाँधो और उनसे राखी बँधवाकर निर्मल प्रेम की धारा बहा दो।

आज बीकानेर रियासत के प्रधान-मन्त्री आये हैं। मैं उन्हें राखी बाँधना चाहता हूँ। पर मेरी रक्षा भाव रूप है द्रव्य रूप नहीं। द्रव्यरक्षा मैं रख ही नहीं सकता और न उसके रखने की आवश्यकता है। मेरी भाव-रक्षा धर्म की रक्षा है, कर्त्तव्य की रक्षा है। भाव रक्षा बाँध कर मैं अपने शरीर की रक्षा कराना नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ-धर्म की रक्षा हो, कर्त्तव्य की रक्षा हो।

आज भारत-कन्या उच्चाधिकारियों और राजाओं की ओर हाथ पसार कर रक्षा बाँधना चाहती है। आप लोग भारत कन्या

की रक्षा को स्वीकार कीजिए। राज्यसत्ता जिस कौशल के साथ भारत की रक्षा कर सकेगी, उस प्रकार की रक्षा दूसरी शक्ति द्वारा होना कठिन है।

आज भारत लुट रहा है, पिट रहा है, आर्तनाद कर रहा है। राज्य सत्ता उस ओर तनिक भी ध्यान दे तो उसके समस्त दुःखों का अन्त हो सकता है। किसी शहर में १०-२० घर लुट जायँगे, अथवा १०-५ लाख रुपयों का डाका पड़ जायगा, इस चिन्ता से राज्य अनेक प्रकार की व्यवस्था करता है और अपना उत्तरदायित्व समझ कर रक्षा का भार उठाता है। पर इस देश में एक ऐसा गुप्त चोर घुसा हुआ है जो अज्ञान प्रजा को—मूर्ख जनता को—अपनी प्रबल शक्ति के साथ दिनोंदिन लूट-खसोट कर दीन-दरिद्र बना रहा है। उसने करोड़ों की सम्पत्ति लूट कर समुद्र पार भेज दी है और इस देश को भिखारी बना दिया है। वह गुप्त चोर भयानक राक्षस है। उसका शरीर एक है, सिर बहुत से हैं। वह रावण से अधिक भयंकर है—प्रबल है। उसका अन्त करने के लिए तेजस्वी राम की आवश्यकता है।

इस महारावण के अनेक सिर हैं। उनमें से, मैं अपनी कल्पना के अनुसार वीर्यनाश को मुख्य मानता हूँ। इसने भारतीय प्रजा को निस्तेज, निर्बल बना दिया है। वीर्यनाश का पोषण करने में बालविवाह की कुप्रथा ने सब से अधिक सहायता पहुँचाई है। इस संबंध में मैं नोबिल स्कूल के विद्यार्थियों के सामने एक भाषण कर चुका हूँ। अतएव विस्तार से आज नहीं कहूँगा।

मैंने भारत के अनेक प्रान्तों का भ्रमण किया है, पर इस कुत्सित रिवाज का जितना प्रचलन बीकानेर राज्य में देखा, उतना शायद ही कहीं होगा।

विवाह शक्ति प्राप्त करने के लिए किया जाता है। शक्ति के लिए मंगल वाद्य बजवाये जाते हैं। शक्ति के लिए ज्योतिषी से ग्रहादिक का सुयोग पूछा जाता है। शक्ति के लिए सुहागिनों का आशीष लिया जाता है। परन्तु जहाँ अशक्ति के लिए यह सब काम किये जाते हो, वहाँ के लोगों से क्या कहा जाय? जो अशक्ति के स्वागत-सत्कार के लिए यह सब समारोह करता हो उस मूर्ख को किस पदवी से अलंकृत करना चाहिये?

बाल-विवाह करना अशक्ति का स्वागत करना ही है। इससे शक्ति का नाश होता है। अतएव चाहे कोई जैन श्रावक हो, वैष्णव गृहस्थ हो अथवा और कोई हो, सब का कर्त्तव्य है कि अपनी सन्तति के हित के लिए—संतान की रक्षा के लिए इस घातक प्रथा को आज रक्षा-बन्धन के दिन त्याग दें। इसका मूलोच्छेदन करके सन्तान का और सन्तान के द्वारा समाज एवं राष्ट्र का मंगलसाधन करें।

आप मंगल के लिए बाजे बजवाते हैं, मंगल के लिए सुहागिनें आशीष देती हैं, मंगल के लिए ज्योतिर्विद से शुभ-मुहूर्त्त निकलवाते हैं; पर यह स्मरण रखिए कि यह सब मंगल जब अमंगल के लिए किये जाते हैं तब ये किसी काम में नहीं आते। इन सब मंगलों से बाल-विवाह के द्वारा होने वाला अमंगल दूर नहीं हो सकता। छोटी-कच्ची उम्र में बालक-बालिका का विवाह करना अमंगल है। ऐसा विवाह भविष्य में हाहाकार मचाने वाला है। ऐसा विवाह त्राहि-त्राहि की आवाज से आकाश को गुंजाने वाला है। ऐसा विवाह देश में दुःख का दावानल दहकाने वाला है। इस प्रकार के विवाह से देश की जीवनी शक्ति का ह्रास हो रहा है। यह शारीरिक क्षमता की

न्यूनता उत्पन्न कर रहा है। विविध प्रकार की आधि-व्याधियों को जन्म दे रहा है। अतएव अब सावधान हो जाओ। अगर संसार की भलाई करने योग्य उदारता आपके दिल में नहीं आई है तो कम से कम अपनी सन्तान का अनिष्ट मत करो। उसके भविष्य को घोर अन्धकार से आवृत मत बनाओ। जिसे तुमने जीवन दिया है, उसी के जीवन का सत्यानाश मत करो। अपनी संतान की रक्षा करो।

यह बालक दुनिया के रक्षक बनने वाले हैं. ऐ भाइयो! छोटी उम्र में विवाह करके इन्हें संसार की कोल्हू में मत पीलो।

यह बालक गुलाब के फूल से सुकुमार हैं, इन पर दाम्पत्य का पहाड़ मत पटको। बेचारे पिस जाएँगे।

बालक निसर्ग का सुन्दरतम उपहार है। इस उपहार को लापरवाही से मत रौंदो।

मित्रो! किसी रथ में दो छोटे छोटे बछड़ों को जोत दिया जाय और उस रथ पर १०-१२ स्थूलकाय आदमी बैठ जाएँ तो जोतने वाले को आप दयावान कहेंगे या निर्दय?

'निर्दय!'

तब छोटे छोटे बच्चों को गृहस्थी-रूपी गाड़ी में जोत कर उन पर संसार का बोझ लादने वालों को आप निर्दय न कहेंगे?

'कहेंगे!'

साथ ही उन बड़े बूढ़े सयानों को—जो इस घोर अत्याचार की अनुमोदना करते हैं—क्या कुछ कम निर्दय कहा जा सकता है?

'नहीं !'

अगर आप अपने अन्तःकरण से मेरे प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं तो धर्म के कानून से इस अन्याय-प्रथा को बन्द करने का प्रयत्न कीजिए। आपने ऐसा न किया तो यह दीवान साहब (सर मनु भाई मेहता) बैठे हैं। वे राजकीय कानून बना कर, आपकी चोटी पकड़ कर इस अन्याय को छोड़ने के लिए बाध्य करेंगे।

भारतीय शास्त्र छोटी उम्र में बालकों के विवाह करने का निषेध करता है। बालक की उम्र बीस वर्ष और बालिका की उम्र सोलह वर्ष निर्धारित की गई है। इतने समय तक बालक-बालिका संज्ञा रहती है। अगर आप लोगों को यह बहुत कठिन जान पड़े तो सोलह वर्ष से पहले बालक और तेरह वर्ष से पहले बालिका का विवाह तो कदापि नहीं होना चाहिए। जिस राज्य में योग्य बालक-बालिका का विवाह होता है उसी राज्य के राजा और मन्त्री प्रशंसा के योग्य हैं। जहाँ प्रजा इसके विपरीत आचरण करती हो वहाँ के वीर राजा और प्रजावत्सल मन्त्री का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपने राज्य की जड़ को खोखला बनाने वाले आचरणों पर तीव्र प्रतिबन्ध लगा दें।

जिस राज्य की प्रजा बलवान् होगी वहाँ चोरी आदि का भय नहीं रहेगा। राज-कर्मचारियों को चोरों और लुटेरों के पीछे अपनी शक्ति व्यय नहीं करनी पड़ेगी और वह शक्ति प्रजा के लिए उपयोगी अन्य कार्यों में लगाई जा सकेगी। इससे विपरीत जिस राज्य में प्रजा निर्बल होती है, उस राज्य को उनकी रक्षा करने के लिए पर्याप्त शक्ति व्यय करनी पड़ती है, काफी परिश्रम करना पड़ता है, फिर भी यथोचित शान्ति कायम नहीं रह पाती। जहाँ

सौ मिख या गोरखे पहरेदार खड़े हों वहाँ चोर की हिम्मत चोरी करने की हो सकती है ? 'नहीं ।' इसी प्रकार जिस राज्य की प्रजा बलवान् होगी वहाँ चोरों और डाकुओं की दाल न गल सकेगी ।

बलवान् प्रजा में से बलवान् साधु निकलने की उम्मीद की जाती है । निर्बल और हतवीर्य प्रजा में से ऐसे ही साधु निकलेंगे, जो दुनिया का कुछ भी भला करने में समर्थ न हो सकेंगे ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के धार्मिक विचारों से मेरी मान्यता भिन्न है । किन्तु अन्य अनेक बातों में मैं उन्हें प्रेम की दृष्टि से देखता हूँ । उन्हें विष दिया गया था और विष के प्रभाव से उनका शरीर फूट-फूट कर चूने लगा था । फिर भी उनके मुख पर तेज झलक रहा था । उनके पास एक नास्तिक रहता था । वह इस विषम-स्थिति में भी उनका आत्मबल देखकर चकित रह गया था । इस दृश्य ने उसे नास्तिक से आस्तिक बना दिया ।

डाक्टरों का कथन था कि यदि ऐसा विष किसी साधारण मनुष्य को दिया जाता तो घण्टे-दो घण्टे में ही उसके प्राण-पखेरू उड़ जाते । मगर उन्होंने ब्रह्मचर्य के प्रताप से ३–४ मास निकाल दिये । जहर के कारण सारा शरीर फूट निकला पर मुँह पर विषाद की रेखा तक नजर नहीं आती । दिन पर दिन अपने नये तात्त्विक विचार लोगों को सुनाते हैं और स्वयं आनन्द में मग्न रहते हैं ।

दयानन्द सरस्वती ने ब्रह्मचर्य के प्रताप से भारतवर्ष में एक सामाजिक क्रान्ति पैदा कर दी । उन्होंने सामाजिक विषयों में विचारों की रूढ़ता एवं गुलामी का अन्त किया और राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाया ।

अहा ! ब्रह्मचर्य में कैसी अद्भुत शक्ति है ! कितना चमत्कार है। किन्तु इस अद्भुत शक्ति को न पहचान कर लोग अबोध बालकों का विवाह कर रहे हैं ! यह कितने परिताप की बात है !

आज के राजा महाराजा अगर उनका ऑनरेरी काम करने वाले साधु सन्तो का सत्संग करें तो उन्हें अपने कर्त्तव्य का सरलता से बोध हो सकता है और जिस कार्य के लिए उन्हें बड़ी-बड़ी तनख्वाहों के पदाधिकारी नियत करने पड़ते हैं, फिर भी कार्य यथावत् नहीं होता, वह अनायास ही सम्पन्न हो सकता है।

बाल-विवाह की भयानक प्रथा का अगर जनता स्वयमेव त्याग नहीं करती तब उसका एक ही उपाय रह जाता है और वह यह कि राज्य अपनी सत्ता से कानून का निर्माण करे और दुराग्रहशील व्यक्तियों के दुराग्रह को छुडावे। मनुष्य की आयु का ह्रास करने में बाल-विवाह भी एक प्रधान कारण है। अमेरिका, जर्मनी और जापान आदि देशों में १००-१२५ वर्ष की आयु के हट्टे-कट्टे तन्दुरुस्त पुरुष मिल सकते हैं; वहाँ भारतवर्ष की औसत आयु पचीस वर्ष की भी नहीं है। भारतवर्ष का यह कैसा अभाग्य है !

देश की इस दुर्दशा में भी भारत के साठ-साठ वर्ष के बूढ़े विवाह करने के लिए तय्यार हो जाते हैं। बूढ़ों की इस वासना ने देश को उजाड़ डाला है। आज विधवाओं की सख्या कितनी ज्यादा बढ़ गई और बढ़ती जाती है, यह किसे नहीं मालूम ? आप थोकड़ों पर थोकड़े गिन लेते हो पर कभी इन विधवाओं की भी गिनती आपने की है ? कभी आपने यह चिन्ता की है कि इन विधवा बहिनों का निर्वाह किस प्रकार होता है ?

इस प्रकार एक ओर बाल-विवाह मानव-जीवन को कुतर रहा है और दूसरी ओर वृद्ध-विवाह विधवाओं की संख्या बढ़ाने

का बीड़ा उठाये हैं। मित्रो ! अगर रक्षाबन्धन के त्यौहार से लाभ उठाना है तो इन घातक रिवाजों को दूर करके समाज और देश की रक्षा करो।

भारत में शिक्षा की भी बहुत कमी है। जो शिक्षा दी भी जाती है वह इतनी निकम्मी है कि शिक्षा प्राप्त करने वाले युवक किसी काम के नहीं रहते। वे गुलामी के लिए तय्यार किये जाते हैं और गुलामी में ही अपने दिन व्यतीत करते हैं। उनका अपनापन अपने तक या अधिक से अधिक अपने संकीर्ण परिवार तक सीमित रहता है। उससे आगे की बात उनके मस्तिष्क में प्रायः कभी आती ही नहीं है। वे अपने को समाज का एक अङ्ग मान कर समाज के श्रेय में अपना श्रेय एवं समाज के अमंगल में अपना अमंगल नहीं मानते। समाज में व्यक्ति का वही स्थान है जो विशाल जलाशय में एक जल-कण का होता है। जलकण अपने आपको जलाशय से भिन्न माने तो क्या यह ठीक होगा ? इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति जब सामाजिक भावना से हीन हो जाता है, अपनी सत्ता स्वतन्त्र और निरपेक्ष समझने लगता है, तब समाज का उत्थान रुक जाता है, राष्ट्र की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। ऐसे लोगों से विश्व-सेवा की आशा ही क्या की जा सकती है ?

पहले यह नियम था कि पहले शिक्षा, पीछे स्त्री मिलती थी। प्रत्येक बालक को ब्रह्मचर्यमय जीवन व्यतीत करते हुए विद्याभ्यास करना पड़ता था। पर आजकल प्रायः पहले स्त्री और पीछे शिक्षा मिलती है। जहाँ यह हाल है वहाँ सुदृढ़ शारीरिक सम्पत्ति से सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान कहाँ से उत्पन्न होंगे ?

अहा ! ब्रह्मचर्य में कैसी अद्भुत शक्ति है ! कितना चम-त्कार है। किन्तु इस अद्भुत शक्ति को न पहचान कर लोग अबो-बालकों का विवाह कर रहे हैं ! यह कितने परिताप की बात है।

आज के राजा महाराजा अगर उनका ऑनरेरी काम करने वाले साधु सन्तों का सत्संग करें तो उन्हें अपने कर्त्तव्य का सरलता से बोध हो सकता है और जिस कार्य के लिए उन्हें बड़ी-बड़ी तनख्वाहों के पदाधिकारी नियत करने पड़ते हैं, फिर भी कार्य यथावत् नहीं होता, वह अनायास ही सम्पन्न हो सकता है।

बाल-विवाह की भयानक प्रथा का अगर जनता स्वयमे-त्याग नहीं करती तब उसका एक ही उपाय रह जाता है और वह यह कि राज्य अपनी सत्ता से कानून का निर्माण करे और दुरा-ग्रहशील व्यक्तियों के दुराग्रह को छुड़ावे। मनुष्य की आयु का ह्रास करने में बाल-विवाह भी एक प्रधान कारण है। अमेरिका, जर्मनी और जापान आदि देशों में १००-१२५ वर्ष की आयु के हट्टे-कट्टे तन्दुरुस्त पुरुष मिल सकते हैं; वहाँ भारतवर्ष की औसत आयु पच्चीस वर्ष की भी नहीं है। भारतवर्ष का यह कैसा अभाग्य है !

देश की इस दुर्दशा में भी भारत के साठ-साठ वर्ष के बूढ़े विवाह करने के लिए तय्यार हो जाते हैं। बूढ़ों की इस वासना ने देश को उजाड़ डाला है। आज विधवाओं की संख्या कितनी ज्यादा बढ़ गई और बढ़ती जाती है, यह किसे नहीं मालूम ? आप थोकड़ों पर थोकड़े गिन लेते हो पर कभी इन विधवाओं की भी गिनती आपने की है ? कभी आपने यह चिन्ता की है कि इन विधवा बहिनों का निर्वाह किस प्रकार होता है ?

इस प्रकार एक ओर बाल-विवाह मानव-जीवन को कुतर रहा है और दूसरी ओर वृद्ध-विवाह विधवाओं की संख्या बढ़ाने

का बीड़ा उठाये हैं। मित्रो ! अगर रक्षाबन्धन के त्यौहार से लाभ उठाना है तो इन घातक रिवाजों को दूर करके समाज और देश की रक्षा करो।

भारत में शिक्षा की भी बहुत कमी है। जो शिक्षा दी भी जाती है वह इतनी निकम्मी है कि शिक्षा प्राप्त करने वाले युवक किसी काम के नहीं रहते। वे गुलामी के लिए तय्यार किये जाते हैं और गुलामी में ही अपने दिन व्यतीत करते हैं। उनका अपनापन अपने तक या अधिक से अधिक अपने संकीर्ण परिवार तक सीमित रहता है। उससे आगे की बात उनके मस्तिष्क में प्रायः कभी आती ही नहीं है। वे अपने को समाज का एक अङ्ग मान कर समाज के श्रेय में अपना श्रेय एवं समाज के अमंगल में अपना अमंगल नहीं मानते। समाज में व्यक्ति का वही स्थान है जो विशाल जलाशय में एक जल-कण का होता है। जलकण अपने आपको जलाशय से भिन्न माने तो क्या यह ठीक होगा ? इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति जब सामाजिक भावना से हीन हो जाता है, अपनी सत्ता स्वतन्त्र और निरपेक्ष समझने लगता है, तब समाज का उत्थान रुक जाता है, राष्ट्र की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। ऐसे लोगों से विश्व-सेवा की आशा ही क्या की जा सकती है !

पहले यह नियम था कि पहले शिक्षा, पीछे स्त्री मिलती थी। प्रत्येक बालक को ब्रह्मचर्यमय जीवन व्यतीत करते हुए विद्याभ्यास करना पड़ता था। अब आजकल प्रायः पहले स्त्री और पीछे शिक्षा मिलती है। जहाँ यह हालत है वहाँ सुदृढ़ शारीरिक सम्पत्ति से सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान कहाँ से उत्पन्न होंगे ?

जैसा कि अभी कहा जा चुका है, आजकल जो शिक्षा मिलती है उसका जीवन-सिद्धि के साथ कोई सरोकार नहीं है, वह बेकार-सी है, फिर भी वह बड़ी बोझीली है। विद्यार्थियों पर पुस्तकों का इतना अधिक बोझा लादा जाता है कि बेचारे रोगी बन जाते हैं। चेहरे पर तेज नहीं, ओज नहीं, रूखा और पीला चेहरा, धँसी हुई आँखें, कृश शरीर, गालों में गड्ढे, यही सब विद्यार्थी की सम्पत्ति होती है। युवावस्था में जब यह दशा होती है, जवानी में बुढ़ापा आ जाता है तब बुढ़ापे में क्या होगा, यह विचारणीय प्रश्न है। अकसर अनेक युवकों का बुढ़ापा ही नहीं आने पाता और वे विधवा की संख्या में एक की वृद्धि करके चल बसते हैं।

विधवा बहिनों की दशा पर जब मैं विचार करता हूँ तब मेरी आँखों में आँसू आ जाते हैं। कई भाइयों के हृदय इतने कठोर बने हुए हैं कि इन बहिनों के दुःख को देख करके भी वे नहीं पसीजते। याद रखना, इन विधवाओं के हृदय से निकली हुई आहें वृथा नहीं जाएँगी। समय आने पर वे ऐसा भयंकर रूप धारण करेंगी कि भारत को भस्मी-भूत कर डालेंगी। आप पशुओं पर दया करते हैं, छोटे-छोटे जन्तुओं पर करुणा की वर्षा करते हैं पर इन विधवा बाइयों की तरफ ध्यान ही नहीं देते! क्या इनका जीवन सूक्ष्म कीटपतगों और पशु-पक्षियों से भी गया-बीता है?

दीवान साहब! विधवाओं की दशा सुधारने और उनकी रक्षा करने का भार आपकी गोद में सौंपा जा रहा है। आप इसे उठाइये। हमारे उपदेश को लोग इतना न मानेंगे जितना आपका आदेश मानेंगे। 'भय बिन होत न प्रीत' उक्ति प्रसिद्ध है।

भय से मेरा यह आशय नहीं है कि जनता को डराया-धमकाया जाय अथवा मार-पीट का अवसर उपस्थित हो। मेरा आशय यह है कि आप कुछ जोर देकर कहेंगे तो काम बन जायगा।

मित्रो! अवसर आया है तो एक बात और कह देना चाहता हूँ। आप लोगों में एक और हानिकारक रिवाज देखता हूँ—बच्चों को जेवर पहनाना। बच्चों को आभूषण पहनाने में आपका उद्देश्य क्या है? इसके दो ही उद्देश्य हो सकते हैं—या तो बालक को सुन्दर दिखाना अथवा अपनी श्रीमन्ताई प्रकट करना। मगर यह दोनों उद्देश्य भ्रम-पूर्ण है। बालक स्वभाव से ही सुन्दर होता है। वह निसर्ग का सुन्दरतर उपहार है। उसके नैसर्गिक सौन्दर्य को आभूषण दबा देते हैं—विकृत कर देते हैं। जिन्हें सच्चे सौन्दर्य की परख है वे ऐसे उपायों का अवलम्बन नहीं करते। विवेकवान व्यक्ति जड़ पदार्थ लाद कर चेतन की शोभा नहीं बढ़ाते। जो लोग आभूषणों में सौंदर्य निहारते हैं, कहना चाहिए कि उन्हें सौन्दर्य का ज्ञान ही नहीं है। वे सजीव बालक की अपेक्षा निर्जीव आभूषणों को अधिक चाहते हैं। उनकी रुचि जड़ता की ओर आकृष्ट हो रही है।

अगर अपनी श्रीमन्ताई प्रकट करने के लिए बालक को आभूषण पहना कर खिलौना बनाना चाहते हो तो स्वार्थ की हद हो गई। अपनी श्रीमन्ताई प्रकट करने के लिए निर्दोष बालक का जीवन क्यों विपत्ति में डालते हो? जिसे अपनी धनाढ्यता का अजीर्ण है—जो अपने धन को नहीं पचा सकता वह किसी अन्य उपाय से उसे बाहर निकाल सकता है। उसके लिए अपनी प्रिय सन्तान के प्राणों को संकट में डालना क्या उचित है?

धर्म की व्यापकता

प्रार्थना
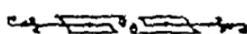
धरम जिनेश्वर मुझ हियड़े वसो, प्यारा प्राण समान।
कबहुँ न विसरूँ हो चितारूँ नहीं, सदा अखंडित ध्यान ॥धरम०॥

श्री धर्मनाथ भगवान् की यह प्रार्थना है। इस प्रार्थना में प्रार्थना करने वाले ने धर्मनाथ भगवान् के अखंडित ध्यान की कामना प्रकट की है। धर्मनाथ भगवान् का ध्यान और आराधन किस प्रकार किया जा सकता है? वास्तव मे धर्म की आराधना ही धर्मनाथ की आराधना है। निर्मल हृदय से, निष्काम भाव से परमात्मा के आदेश का अनुसरण करना ही परमात्मा की सर्व-श्रेष्ठ आराधना है। परमात्मा के आदेश के प्रतिकूल आचरण करने वाले, परमात्मा के गुणों का रटन ऊपर-ऊपर से करते रहे और हृदय को पापवासना से मलीन बनाये रक्खें तो उससे क्या लाभ हो सकता है?

कई भाई सोचते हैं कि धर्म की आराधना साधु ही कर सकते हैं। गृहस्थ लोग नहीं। यह विचार भ्रमपूर्ण है। धर्म तत्त्व

इतना संकुचित नहीं है। धर्म में ऐसी संकीर्णता नहीं है कि थोड़े से लोग ही उसका उपयोग कर सकें और जगत मात्र उससे वंचित रहे। अगर धर्म में इतनी संकीर्णता होती तो धर्म को फैलाने वाले अवतारों को लोग ईश्वर, परमेश्वर, प्रभु, जगन्नाथ जगद्बन्धु, जगन्नियन्ता आदि उदार विशेषणों से क्यों स्मरण करते? अतएव इस भ्रान्त धारणा को निकाल कर फेंक दो। धर्म सिर्फ साधुओं-त्यागियों-के लिए नहीं है पर सारे संसार के लिए है, जैसे प्राकृतिक पदार्थों को—हवा, पानी आदि को—उपयोग में लाने का अधिकार सभी प्राणियों को है, उससे कोई वंचित नहीं किया जा सकता, इसी प्रकार धर्मतत्त्व के पालन करने का अधिकार भी सभी को है। गृहस्थ तो मनुष्य ही हैं, पर शास्त्रकार तो पशुओं को भी धर्मपालन का अधिकार देते हैं। कोई-कोई पशु भी प्रबल पुण्य के परिपाक से श्रावक के कतिपय नियमों की आराधना करके पंचम गुणस्थान श्रेणी को प्राप्त कर सकता है। जहाँ पशुओं को भी धर्म-साधना का अधिकार हो वहाँ मानव मात्र का अधिकार तो स्वयं सिद्ध हो जाता है। यह आश्चर्य की बात है कि भगवान महावीर के समकालीन श्री गौतम बुद्ध ने अपने संघ में गृहस्थों को स्थान नहीं दिया, पर इसका परिणाम कुछ अच्छा नहीं आया। इससे विपरीत जैन मत में श्रावक और श्राविका को स्थान प्राप्त है। इसका परिणाम यह है कि आज जैनों की संख्या अल्प होने पर भी जैन संघ, बौद्ध संघ की अपेक्षा अपने मूलभूत उसूलों से अधिक चिपटा हुआ है। यह ठीक है कि इसमें भी अनेक प्रकार के विकार आ गये हैं फिर भी बौद्ध साधु और श्रमणोपासक से जैन साधु और श्रावक की तुलना करने से दोनों का भेद स्पष्ट प्रतीत हुए बिना नहीं रहेगा। यह कहकर मैं किसी धर्म की निन्दा नहीं करना चाहता, अपितु यह

बताना चाहता हूँ कि धर्म तत्त्व उदार है, व्यापक है और उसे साधन करने का गृहस्थों को भी अधिकार है।

सूर्य किसी व्यक्ति-विशेष के घर पर ही प्रकाश नहीं फैलाता, पर जगत् को प्रकाशमय बनाता है। जल किसी खास व्यक्ति की तृषा को शान्त नहीं करता; वरन् प्रत्येक पीने वाले की प्यास बुझाता है। वायु कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए ही नहीं है किन्तु सभी के लिए है। अग्नि सिर्फ राजा के पकवान ही नहीं पकाती पर सभी प्राणी उससे समान भाव से लाभ उठाते हैं। अगर अग्नि में यह गुण न हो, वह केवल राजा के ही काम में आने वाली हो तो क्या आप उसे अग्नि कहेंगे ?

'नहीं !'

इसी प्रकार धर्म सार्व है—सर्वजन-हितकारी है। सभी उसकी आराधना करके कल्याण-साधन कर सकते हैं। जो धर्म कुछ व्यक्तियों के काम आवे वह अपूर्ण है—संकीर्ण है। प्रकृति की समस्त वस्तुओं पर समस्त प्राणियों का अधिकार है। प्रत्येक प्राणी को प्राकृतिक पदार्थों के उपयोग करने का स्वतः सिद्ध हक है। अगर किसी को किसी कुदरती वस्तु से कोई हानि पहुँचती है तो वह दोष उस वस्तु का नहीं है। वस्तु तो अपने स्वभाव के अनुसार गुणों को धारण किये हुए हैं। उसका अनुचित या अयोग्य व्यवहार करने वाले का ही दोष है कि वह उससे हानि उठाता है। सूर्य सभी को प्रकाश देता है, पर संसार में कुछ प्राणी
के लिए वह भी अन्धकार-सा उत्पन्न करने वाला बन
क और चमगादड़ आदि को सूर्य के प्रकाश में
पड़ता। उन्हें रात्रि में ही दीखता है। इस, पिशो

को अगर दिखाई नहीं देता तो क्या यह सूर्य का दोष है ? नहीं। अगर यह दोष है तो उनकी प्रकृति का ही दोष समझा जा सकता है। प्रकृति की वस्तु सब को लाभ पहुँचाती है उसका उपयोग चाहे राजा करे, ब्राह्मण करे, चाण्डाल करे, साधु करे, जंगल में करे, घर में करे; कहीं भी क्यों न किया जाय! वह सब के लिए समान है। प्रकृति के दरबार में भेदभाव नहीं है—विषमता नहीं है। वैषम्य के बीज तो मनुष्य ने अपने हाथों बोये हैं।

धर्म भी प्राकृतिक है। वस्तु का स्वभाव है। 'वत्थुसहावो धम्मो।' ऐसी स्थिति में धर्म में भेदभाव की गुंजाइश कहाँ है ?

सर्व साधारण के काम में आने वाले धर्म का लक्षण क्या है ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। दुनिया में धर्म के आगे अनेक विशेषण लग जाने के कारण साधारण जनता चक्कर में पड़ जाती है कि हम किस विशेषण वाले धर्म का अनुसरण करें ? कौन-सा विशेषण हमें मुक्ति प्रदान करेगा ? किस विशेषण के द्वारा हमारी आत्म-शुद्धि होगी और जीवन का विकास हो सकेगा ? कहीं जैन विशेषण है, कोई 'ईसाई' विशेषण से उसे विशिष्ट बनाता है। कोई-कोई 'मुस्लिम' विशेषण लगा कर अपने धर्म को अलग बताता है। इस पर अगर गहराई के साथ विचार किया जाय तो विदित होगा कि भेद वास्तव में विशेषणों में है। जिसके यह सब विशेषण हैं उस धर्म तत्त्व में कहीं भेद नहीं है। धर्म तत्त्व एक है, अखण्ड है। उस अखण्ड तत्त्व के खण्ड-खण्ड करके अनेकान्त में एकान्त की स्थापना करके, देश काल के अनुसार लोक रुचि की विभिन्नता का आश्रय लेकर उसके अनेक विशेषण लग गये हैं। अगर इन सब विशेषणों को अलहदा करके तत्त्व का अन्वेषण किया जाय तो मणि सूर्य के समान चमक उठेगा।

जब धर्म सत्य है और सर्वत्र एक है तो धर्म अनेक किस प्रकार हो सकते हैं ? अस्तु ।

जैन सिद्धान्त कहता है—धर्म का तत्त्व प्रत्येक श्रद्धावान् को, फिर चाहे वह आर्य हो या अनार्य हो, मिलना चाहिए। धर्म अपूर्ण वस्तु नहीं है, पूर्ण है। इसी कारण वह सब से प्रेम करता है, किसी को धिक्कार नहीं देता।

धर्म की व्याख्या साधारण नहीं है। धर्म में किसी भी प्रकार के पक्ष-पात को, जातिगत भेदभाव को, ऊँच-नीच की कल्पना को, राजा-रंक अथवा गरीब-अमीर की भावना को तनिक भी स्थान नहीं है। धर्म की दृष्टि मे यह सब समान हैं।

धर्म के भीतर एक महान् तत्त्व है। उस महान् तत्त्व की उपलब्धि सब को नहीं होने पाती—कोई विरला ही उसे प्राप्त करता है। जिसमें धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धाभाव व और हिमाचल की सी अचलता है वही उस गूढ़तर तत्त्व को पाता है।

जब प्रह्लाद पर अभियोग लगाया गया तब हिरण्यकश्यपु ने पुरोहितों को आज्ञा दी कि कोई ऐसा अनुष्ठान करो जिससे प्रह्लाद का अन्त हो जाय। जिस धर्म का अन्त करने के लिए मैंने जन्म लिया है, प्रह्लाद उसी को फैला रहा है। मेरे ही घर में जन्म लेकर मेरे शत्रु—धर्म को प्रश्रय दे यह मुझे असह्य है। मैं धर्म को जीवित नहीं रहने दूंगा। अगर प्रह्लाद उसे जीवित रखने की चेष्टा करेगा तो उसे भी जीवित न रहने दूंगा।

हिरण्यकश्यपु ने प्रह्लाद को बुलाकर समझाया—अरे! इस धर्म को तू छोड़ दे। मैं ही प्रभु हूँ, मैं ही ईश्वर हूँ। मेरे विपरीत

आचरण करने से यह भूलोक ही तेरे लिए पाताल लोक—नरक बन जायगा। मेरा कहना मान। बाल-हठ मत कर। धर्म तुझे ले डूबेगा।

प्रह्लाद ने निर्भय और निश्चिन्त भाव से कहा—तुम और हो, प्रभु कुछ और है। धर्म के अनुकूल आचरण करना मेरे जीवन का उद्देश्य है। धर्म का अनुसरण करने से ही अगर कोई विरोध समझता है तो मेरा क्या दोष है? मैं आपसे नम्र प्रार्थना करता हूँ कि आप अपना दुराग्रह त्याग दें। धर्म अमर है, अविनाशी है। वह किसी का मारा मर नहीं सकता। वह किसी के नाश किये नष्ट हो नहीं सकता। जो धर्म का नाश करने की इच्छा करता है, वह अपने ही विनाश को आमंत्रित करता है। आप अपना अनिष्ट न करें, यही प्रार्थना है।

प्रह्लाद की नम्रतापूर्ण किन्तु दृढ़ता से व्याप्त वाणी सुनकर हिरण्यकश्यपु क्रोध के मारे तिलमिला उठा। उसने अपनी लाल—लाल भयानक आँखें तरेर कर प्रह्लाद की ओर देखा, मानो अपने क्रोधानल से ही हिरण्यकश्यपु को जला देगा। फिर कहा—विद्रोही छोकरे! अब अपने धर्म को याद करना। देखें तेरा धर्म तेरी क्या सहायता करता है? अभी तुझे धर्म का मधुर फल चखाता हूँ।

इतना कह कर उसने पुरोहितों को आज्ञा दी—'इसे आग में डाल कर जीवित ही जलाकर खाक कर दो!' पुरोहितों ने तत्काल हिरण्यकश्यपु के आदेश का पालन करना चाहा। उन्होंने धधकती हुई आग में प्रह्लाद को बिठलाया। उस समय भी प्रह्लाद की धर्मश्रद्धा एवं सत्यसाधना से आकृष्ट होकर दैवी शक्ति ने

चमत्कार दिखाया। वह अग्नि अपनी भीषण ज्वालाओं से पुरोहितों को ही जलाने लगी। प्रह्लाद के लिए वह जल के समान शीतल बन गई। आग से बचने के लिए प्रह्लाद ने एक श्वास भी प्रार्थना में नहीं लगाया। उसने अपने बचाव के लिए परमात्मा से एक शब्द में भी प्रार्थना न की। 'हे ईश्वर! मेरी रक्षा करो' इस प्रकार की एक भी कातर उक्ति उसके मुख से नहीं निकली। वह जानता था—आत्मा जलने योग्य वस्तु नहीं है। वह अमर है–आत्मा का कोई कुछ बिगाड नहीं सकता। उसे कोई हानि नहीं पहुँचा सकता।

क्षण भर में पुरोहितों के हाहाकार और चीत्कार से आकाश व्याप्त हो गया।

राज्यसत्ता अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए दूसरों को कष्ट देती रहती है। सारे संसार की राजनीति में इसी बात का ध्यान रक्खा जाता है। राज्यसत्ता ने अपनी प्रतिष्ठा का अस्तित्व रखने के लिए, प्रतिष्ठा का विस्तार करने के लिए और अपनी सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए गत महायुद्ध का भीषण रूप उपस्थित किया था। (और इसीलिए वर्त्तमान में भीषण संहार का नंगा नृत्य हो रहा है। इस संहार के सामने गत महा-युद्ध का ध्वंस भी नाचीज ठहरता है।—संपादक)

हिरण्यकश्यपु ने अपनी प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए प्रह्लाद को उखाड़ना चाहा। पर उसकी दैवी शक्ति इतनी प्रबल थी कि उसके सामने हिरण्यकश्यपु की राजकीय शक्ति कातर बन गई।

मैं कई बार कह चुका हूँ कि धर्म वीरों का होता है, कायरों का नहीं। वीर पुरुष अपनी रक्षा के लिए लालायित नहीं रहते,

वरन् अपने जीवन का उत्सर्ग करके भी दूसरे की रक्षा के लिए सदा उद्यत रहते हैं। वे प्रहार करने वाले की झिलमिलाती हुई तलवार को देख कर नहीं डरते। डरना तो दूर की बात है, उनका एक रोम भी नहीं धड़कता। वीर पुरुष प्रहार करने वालों को भी अपना सहायक समझता है। उसके विचारों में निरालापन होता है।

> या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी।
> यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः॥

जहाँ अन्य प्राणी अज्ञान रूप अंधकार का अनुभव करते हैं, वहाँ ज्ञानी पुरुष ज्ञान रूप प्रकाश की अवस्था का अनुभव करते हैं। अन्य प्राणियों को जो अवस्था प्रकाशमयी मालूम होती है, उसे ज्ञानी अन्धकारमयी मानता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जिसे असत्-बुरा या हेय समझता है उसीको ज्ञानी जन सत् अथवा उपादेय मानते हैं। गजसुकुमार के मस्तक पर दहकते हुए अंगार रक्खे गये परन्तु उन्होंने अंगार रखने वाले को अपना उपकारक ही माना। आप लोग इस कथा को सदा सुनते हो और स्वीकार भी करते हो, किन्तु जब क्रिया करने का अवसर आता है तब कुछ और ही रँग दिखाने लगते हो!

जिन्होंने आत्मतत्त्व की उपलब्धि कर ली है, जो आत्मा के सहज स्वभाव में रमण करने लगे हैं वे मारने वाले को भी उपकारी समझते हैं। उनका मन्तव्य होता है कि हम जहाँ कुछ समय के पश्चात् पहुँचने वाले थे, वहाँ इस उपकारी ने जल्दी ही पहुँचा दिया है।

मित्रो ! धर्म बातों से नहीं होता। धर्म अनुष्ठान से—क्रिया से होता है। वीर पुरुष ही धर्म का पालन करते है। क्षत्रिय को तलवार का बल होता है, पर वीरो मे वीर, दैवी शक्ति का धनी, आत्मबल से सम्पन्न महात्मा तलवार के बल को हेय समझता है। वह अपनी आत्मिक शक्ति के द्वारा तलवार वाले की भी रक्षा करता है।

जिस समय प्रह्लाद को जलाने के लिए धधकाई हुई अग्नि पुरोहितों को ही भस्म करने लगी, तब प्रह्लाद ने प्रार्थना की—प्रभो ! इन कातरो का त्राण करो। यह बेचारे अज्ञान प्राणी अपने भौतिक बल को ही प्रबल समझ बैठे हैं। इनकी बुद्धि अज्ञान से मलीन है। इन्हे क्षमा करो। दया करो, जिससे इन्हे शान्ति मिले !

जिस प्रह्लाद ने अपने परित्राण के लिए प्रार्थना का एक शब्द भी उच्चारण नहीं किया था, वही प्रह्लाद उसी को भस्म करने के लिए उद्यत हुए पुरोहितों के लिए परमात्मा के प्रति प्रार्थी बना। उसकी प्रार्थना निष्फल नहीं हुई। अग्नि शान्त हो गई और पुरोहित आश्चर्य करने लगे। वे बोले—ओह ! आग अचानक शान्त हो गई ! प्रह्लाद, तुम बड़े करामाती हो। यह विद्या तुमने कहाँ सीखी ?

प्रह्लाद बोला—

सर्वत्र दैत्या समतामुपेत्य,
समत्वमाराधनमच्युतस्य ॥

सब प्राणियों पर समताभाव लाओ। मारने वाले को भी मान दो। मारने वाले से मत डरो। डरने वाला ही क्रोध करता

है और क्रोध करने वाला ही डरता है। जहाँ डर आया कि क्रोध आते देर नहीं लगती। अगर आपके पास एक ऐसी वस्तु हो जो त्रिकाल में भी आपको छोड़ कर कहीं नहीं जा सकती तो आप उस वस्तु के लिए चिन्ता करेंगे ?

'नहीं !'

जिस वस्तु के न छिनने का आपको भरोसा है, उसे छीनने का अगर कोई प्रयत्न करता है तो क्या आप उस पर क्रोध करेंगे ?

'नहीं !'

क्रोध तभी आता है जब उस वस्तु के जाने का भय हो।

जिस मनुष्य के पास सौ टंच का सच्चा सोना है, और जिसे सोने के सच्चे एवं विशुद्ध होने का विश्वास है, वह उस सोने की परीक्षा से भयभीत होगा ? अगर कोई आदमी उस सोने को तपाना चाहे तो क्या सोने का स्वामी घबराएगा ? कदापि नहीं। वह कहेगा-'लीजिए, खूब तपाइए। सच्चा हो तो लीजिए।' इससे विपरीत जिसके पास सच्चा सोना नहीं है, नकली है, वह तपाने के लिए कहने पर क्या कहेगा ? वह कहेगा— वाहजी वाह ! आप मुझ पर इतना भी विश्वास नहीं है तो रहने दीजिए। मेरा सोना मुझे लौटा दीजिए।' इस प्रकार नकली सोने वाले को क्रोध आवेगा।

तात्पर्य यह है कि सत्य से क्रोध नहीं होता, सत्य से भय नहीं होता, सत्य से कपट नहीं होता, सत्य से लोभ नहीं होता।

कोई दुराचार [illegible] है। यह आपको छोड़कर चले [illegible] सकते हैं। इसी कारण उनकी रक्षा के लिए आपको चिन्ता करनी पड़ती

है। अगर ये आपको छोड़कर जाने वाले न होते तो आपको इनकी चिन्ता करनी पड़ती ? नहीं। क्योंकि जो स्वयं रक्षित है उसकी रक्षा करने की क्या आवश्यकता है ?

जो आत्माराम मे रमण करता है, जिसे सच्चिदानन्द पर परिपूर्ण श्रद्धाभाव उत्पन्न हो चुका है, वह मरने से नहीं डरता, क्योंकि वह समझता है—मेरी मृत्यु असम्भव है, मैं वह हूँ, जहाँ किसी भी भौतिक शक्ति का प्रवेश नहीं हो सकता।

मित्रो ! यह विषय बड़ा गूढ़ है। एक दिन के व्याख्यान मे इसे समझाना शक्य नहीं है। इसे हृदयंगम करने के लिए कुछ दिन बराबर इस विषय को सुनना चाहिए, इस पर मनन-चिन्तन भी करना चाहिए। जब इसे हृदयंगम कर लोगे तब इसका अभ्यास भी कर सकोगे।

जो मनुष्य सच्चिदानंद के स्वरूप का अनुभव करने लगता है उसे डराने की शक्ति त्रैलोक्य में भी नहीं है। आप चाहे वाल्मीकि—रामायण को देखिए, चाहे जैन-रामायण को पढ़िए, सीता के अग्निस्नान का वर्णन कैसे जाज्वल्यमान आत्म-विश्वास का द्योतक है ! जिसे सच्चिदानन्द पर पूरा विश्वास हो गया है, पाँचों भूत उसके सेवक बन जाते हैं। पौराणिक बातों को सिद्ध करने और उनमें रही हुई कल्पनाओं पर प्रकाश डालने का आज समय नहीं है। इसलिए आज इस विषय पर कुछ नहीं कहूँगा। अलबत्ता यह बता देना चाहता हूँ कि दैवी-शक्ति के छोटे-छोटे काम हम आज भी देख सकते हैं। मै एक बार घाटकोपर (बम्बई) में था, तब गोधरेज वंश के एक पारसी सज्जन, जिनकी गोधरेज की तिजोरियाँ बहुत प्रसिद्ध है, मुझ से मिलने आये। उन्होंने मुझे

एक पुस्तक बताई। मैं अंग्रेजी भाषा जानता नहीं था, अतएव एक दूसरे मुनि से मैंने वह पुस्तक सुनी। उसमें एक स्थल पर लिखा था कि फ्रान्स देश में एक ऐसे डाक्टर हैं जो बड़ी मेद की गाँठों को सिर्फ हाथ फेर कर गिरा देते हैं, जैसे कोई वृक्ष पर से फल झाड़ लेता है। यह सब क्या है? आत्मबल का चमत्कार, मानसिक शक्ति की करामात!

आजकल के मनोविज्ञानवेत्ता मानवीय मन की शक्तियों की खोज में लगे हुए हैं। एक मनुष्य ने अपनी मानसिक-शक्ति के द्वारा बड़े जहाज को उलट दिया था। मेस्मेरिज्म एक हल्की जाति की मानसिक क्रिया है। भारतीय साहित्य में इसे त्राटक कह सकते हैं। यह एक बहुत ही हल्की क्रिया मानी गई है। इसका साधक भी जब मनचाहा काम कर सकता है तब बड़े मानसिक शक्ति वाले क्या काम न कर सकेंगे? साधारण मनोबल वाला भी यदि मनुष्य को हँसा सकता है, रुला सकता है, इधर-उधर हिला-डुला सकता है तब उच्चश्रेणी की मानसशक्ति प्राप्त कर लेने वाले को कौन-सा काम असाध्य हो सकता है? 'केसरी' पत्र के सम्पादक श्री केलकर ने चार इञ्च मोटे अष्ट पहलू लोहे के डण्डे को केवल मानसिक-शक्ति के द्वारा कपड़े की तरह मोड़ कर रख दिया था। क्या यह साधारण तौर पर आसान काम है?

जिस मनुष्य का आत्म-विश्वास प्रगाढ़ हो जाता है, उसके लिए ऐसा कोई काम नहीं रहता जिसे वह कर न सकता हो। लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करने पर भी जो काम पूरा नहीं होता, उसे आत्मबली बात की बात में कर डालता है। आत्मबलशाली के सामने समस्त शक्तियाँ हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं।

रेडियम धातु के एक तोले का मूल्य चार करोड़ रुपया है। यह धातु बड़ी कठिनाई से मिलती है। इसका एक कण, जो माइक्रोसकोप से ही देखा जा सकता है, अगर शीशे की नली में बन्द कर दिया जाय और रोगी के ऊपर उसका प्रयोग किया जाय तो चमत्कार दिखाई देगा। परन्तु आत्मबल के पहाड़ में से यदि तुम कुछ भी शक्ति प्राप्त कर लोगे तो तुम्हे यह सब चमत्कार—यह सिद्धि—फीके जान पड़ेंगे।

परमात्मा की शक्ति अद्भुत है। इस तथ्य की परीक्षा जैन-दृष्टि से, वैष्णव-दृष्टि से, ईसाई-दृष्टि से, मुस्लिम-दृष्टि से या अन्य किसी भी दृष्टि से करो, अगर निष्पक्ष-भाव से परीक्षा करोगे तो उसका पता चल जायगा।

सब प्राणियों में आत्म-स्वरूप के दर्शन करो, तुम्हारा कल्याण होगा। ईश्वर आनन्द-घन रूप है। तमाम प्राणियों के हृदय में उसके दर्शन होते है। उसे पहचानने का प्रयत्न करो। मैंने तुकाराम की एक अभङ्ग कविता पढ़ी है। उसमें भक्त-भागवतों को सम्बोधन किया गया है। तुम उसे अर्हद्-भक्त की दृष्टि से देखना। धर्म किसी एक की वस्तु नहीं है। वह सब की सामान्य सम्पत्ति है। जिसमे धर्म का समावेश हो वही हमारी है। असल में हमारा काम सत्य की खोज करना है। मैंने साधु का जो बाना पहना है सो लोक-दिखावे के लिए नहीं; पूजा—प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए भी नहीं, परन्तु परमात्मा की उपलब्धि के मार्ग पर अपने आत्मा को प्रस्तुत करने के लिए पहना है। तुकाराम का प्रश्न क्या है? सुनिये:—

> वै एव मय जग वैष्णवांचा धर्म भेदाभेद भ्रम अमङ्गल,
> जी तुम्हीं भक्त भागवत कराल ते हित सत्य करा।

इसके अतिरिक्त यहाँ निन्दा का कोई प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। मै तो अकृत्रिम मूर्त्ति की महत्ता का दिग्दर्शन करना चाहता हूँ। देखिए—

देहो देवालयः प्रोक्तो, जीवो देवः सनातनः।
त्यजेदज्ञान निर्माल्यं, सोऽहं भावेन पूजयेत् ॥

यह देह मन्दिर है। इसमें विराजमान आत्मा देव-परमात्मा है। अज्ञान रूपी निर्माल्य (त्याज्य वस्तु) का त्याग करके सोऽहं भाव से उस परमात्मा की सेवा करना चाहिए।

यह 'सोऽहं' भाव क्या है? इसको स्पष्ट करते हुये एक जैनाचार्य ने कहा है—

यः परमात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयाऽऽराध्यः, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥

अर्थात्–जो परमात्मा है वही मैं हूँ। जो मै हूँ वही परमात्मा है। इस प्रकार सोऽहं का अर्थ है—'मै ईश्वर हूँ।'

यह आशंका की जा सकती है कि 'मैं ईश्वर हूँ।' ऐसा कहने और अनुभव करने से तो अभिमान आ जायगा। यह आशंका ठीक है। ऐसा कहने एवं अनुभव करने मे अगर अभिमान आ जायगा तो वह कथन एवं अनुभव मिथ्या होगा। अभिमान वृत्ति का त्याग करके जब ऐसा अनुभव किया जायगा अथवा कहा जायगा तभी उसमें सचाई आएगी। अभिमान का आना अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार की अनुभूति जिस उच्च भूमिका मे प्रवेश करने पर होती है, उसमे अभिमान का भाव शांत हो जाता है।

मित्रो! अगर एकान्त में बैठ कर ध्यान का अभ्यास करोगे तो तुम्हे पता चल जायगा कि तुम ईश्वर से भिन्न नहीं हो।

जो इस उन्नत अवस्था को प्राप्त करता है वही 'सोऽहं' बन सकता है। आध्यात्मिक भेद करते हुए सोऽहं का रूप इस प्रकार बताया गया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे. परतस्तु स ॥
गीता—३, ४२,

देह आदि पदार्थों से इन्द्रियाँ परे हैं. इन्द्रियों से मन परे है, न से बुद्धि परे है और बुद्धि से भी परे 'सः' अर्थात् आत्मा है।

सः अर्थात् आत्मा का ठीक-ठीक अभिप्राय समझाने के ।ए एक बात कहता हूँ-

एक गुरु के दो शिष्य थे। दोनो को सोऽहं का पाठ पढ़ाया या और उस पर स्वतन्त्र विचार—अनुभव करने के लिए कहा या।

दोनो शिष्यो में एक उद्दण्ड स्वभाव का था। उसने ाधना तो कुछ की नहीं और सोऽहं—मैं ईश्वर हूँ, इस प्रकार ह कर अपने आप परमात्मा बन बैठा। वह अपने परमात्मा ने का ढिंढोरा पीटने लगा। जो मिले उसीसे कहता—मैं ईश्वर । लोगों ने उसकी मूर्खता का इलाज करने के लिए उसके हाथों र जलते अंगार रखने चाहे। तब वह बोला—हैं! यह क्या करते ो? हाथ पर अंगार रख कर मुझे जलाना क्यों चाहते हो?

लोगों ने कहा—'भले आदमी! कहीं ईश्वर भी जलता ोगा?' फिर भी वह मूर्ख शिष्य अपनी मूर्खता को न समझ का। वह अपने को ईश्वर कहता ही रहा। एक आदमी ने उसके ाल पर चाँटा मारा। वह बोला—क्यो तुमने मुझे चाँटा मारा?

वह आदमी—मूर्ख ! कहीं ईश्वर के भी चाँटा लगता है ?

मगर उसकी मूर्खता का रंग इतना कच्चा नहीं था। वह चढ़ा रहा। वह लोगों के विनोद का पात्र बन गया। उससे अधिक वह कुछ न कर सका। पर दूसरा शिष्य साधना में लगा। वह एकान्तवास करने लगा और सोचने लगा—मैं अनेक प्रकार के रूप देख रहा हूँ, यह आँखों का प्रभाव है। मैं अनेक काव्य सुनता हूँ, यह कानों की शक्ति है। नाना प्रकार के रसों का आस्वादन करना जिह्वा का काम है। किसी वस्तु का स्पर्शज्ञान होना हाथ-पैर आदि का काम है। मैंने जो गंध सूँघे हैं सो नाक के द्वारा। तो अब मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि यह इन्द्रियाँ ही सोऽहं है।

वह अपना निष्कर्ष लेकर प्रसन्न होता हुआ गुरुजी के पास पहुँचा। गुरुजी से बोला—महाराज, मैंने सोऽहं का पता पा लिया है।

गुरुजी—कैसे पता पा लिया ?

शिष्य—जो इन्द्रियाँ हैं वही सोऽहं है।

गुरुजी—जाओ, अभी और साधना करो। तुम्हें अभी तक सोऽहं का ज्ञान नहीं हुआ।

शिष्य चला गया। उसने सोचा— मैं अब तक सोऽहं का पता न पा सका। खैर, अब फिर प्रयत्न करता हूँ।

वह फिर साधना में जुट गया। विचार करने लगा—गुरुजी ने कहा है—इन्द्रियाँ सोऽहं नहीं है। वास्तव में इन्द्रियाँ सोऽहं कैसे हो सकती हैं। इन्द्रियाँ सोऽहं होतीं तो अस्थिरता कैसे

होती ? इन्द्रियाँ बचपन में जैसी थीं आज वैसी कहाँ हैं ? इसके अतिरिक्त मैंने भूतकाल में अनेक शब्द सुने थे। उनका आज भी मुझ को ज्ञान है, यद्यपि वे वर्त्तमान में नहीं बोले जा रहे हैं। भूतकाल में मैंने जो विविध रूप देखे थे वे आज दिखाई नहीं दे रहे हैं फिर भी उनका मुझे स्मरण है। अगर इन्द्रियाँ ही जानने वाली होतीं तो वर्त्तमान में भूतकालीन विषयों को कौन स्मरण रखता ? इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इन्द्रियों से परे कोई ज्ञाता अवश्य है। तब फिर वह कौन है ?

उसने समस्या पर गहराई के साथ विचार किया। तब उसे जान पड़ा कि इन सब क्रियाओं मे मन की प्रेरणा रहती है। अतएव मन ही सोऽहं होना चाहिए। इस प्रकार निश्चय करके वह गुरुजी के पास आया। बोला—गुरु महाराज, मैं सोऽहं का मतलब समझ गया।

गुरुजी—क्या समझे ?

शिष्य—यह जो मन है सो ही सोऽहं है।

गुरुजी—फिर जाओ और साधना करो।

शिष्य फिर चला गया। उसने फिर साधना आरम्भ की। सोचा—मन सोऽहं नहीं है। ठीक है। मन को प्रेरित करने वाला कोई और ही है। उसी का पता लगाना चाहिये। उसने बहुत विचार किया। तब उसे मालूम हुआ। मन को बुद्धि प्रेरित करती है। इसलिए मन से परे बुद्धि सोऽहं है। वह फिर गुरुजी के पास पहुँचा। कहने लगा—गुरुजी, अब मैंने सोऽहं को समझ पाया है।

गुरुजी—क्या है, बताओ ?

शिष्य—मन से परे बुद्धि सोऽहं है।

गुरुजी—वत्स, जाओ, अभी और साधना करो।

शिष्य बेचारा फिर साधना में लगा। सोच विचार के पश्चात् उसने स्थिर किया—गुरुजी ने ठीक ही कहा है कि बुद्धि सोऽहं नहीं है। अगर बुद्धि सोऽहं होती तो उसमें विचित्रता-विविधता क्यों होती ? कभी वह विकसित होती है, कभी उसमें मंदता आ जाती है। कभी अच्छे विचार आते हैं, कभी बुरे विचार आते हैं। इससे जान पड़ता है कि बुद्धि के परे जो तत्त्व है वही सोऽहं है।

शिष्य बड़ी प्रसन्नता के साथ गुरुजी के पास पहुँचा। बोला—महाराज, अब की बार सोऽहं का पक्का पता चला लाया हूँ।

गुरुजी—क्या ?

शिष्य—जो गुह्य तत्त्व बुद्धि से परे है, जिसकी प्रेरणा से बुद्धि का व्यापार होता है, वह सोऽहं है।

गुरुजी—(प्रसन्नतापूर्वक) हाँ, अब तुम समझे। जो कुछ तुम हो वही ईश्वर है। उसी को सोऽहं कहते हैं।

मित्रो ! आत्मा का पता आत्मा के द्वारा आत्मा को ही लग सकता है ! परन्तु आपने आत्मा के आच्छादनभूत बाह्य पदार्थों को महंगा बना लिया है, अतएव आपकी गति बाहर तक ही सीमित है। बाह्य आवरणों को चीर कर आप भीतर नहीं झांक पाते। आप पूछेंगे—कैसे ? मैं कहता हूँ—ऐसे बताइए, रूप बड़ा है या आँखें ?

'आँखें' !

तो फिर रूप का लोभ क्यों करते हो ? इसी प्रकार अन्यान्य बातों में भी समझना चाहिए। आप रूप, रस, गंध,

स्पर्श आदि के लोभ में पड़ गये हैं, इसी से आगे का काम रुका पड़ा है। मछली, मांस लगे हुए जाल के काँटे में फँस जाती है। वह जानती है—मैं मांस खाने जाती हूँ; उसे यह नहीं मालूम कि वह मांस खाने नहीं जा रही वरन् मांस देने जा रही है।

मित्रो ! मान लीजिए, एक धीवर समुद्र के किनारे जाल के काँटे में माँस लगाकर मछलियाँ पकड़ने की कोशिश कर रहा है। नासमझ मछलियाँ माँस के लोभ से जाल की ओर बढ़ी चली आरही हैं। आप दयावान् हैं और मछलियाँ अगर आपकी भाषा समझ सकती हैं तो आप उनसे क्या कहेंगे ? आप उनसे कहेंगे—'बहिनो ! जिसके लिए तुम दौड़ी चली आ रही हो वह मांस नहीं, तुम्हारा नाश है—तुम्हारा ध्वंस है। इधर मत आओ।' लेकिन आप जानते हैं कि मछलियाँ आपकी भाषा नहीं समझतीं। इसलिए आप उनसे कुछ न कह कर सीधे धीवर से कहेंगे—'प्यारे, यह सब अज्ञान हैं और निरपराध हैं। इन्हें मत मार।'

जैसे आप मछलियों पर करुणा करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी-जन सारे संसार पर करुणा लाता है। वह कहता है—"ऐ मनुष्यो ! कुछ आत्म-कल्याण का काम करो। खाने-पीने पर अंकुश रक्खो। दूसरों को आनन्द पहुँचाओ ! ऐसा करने से तुम्हारा मनोरथ जल्दी पूर्ण होगा।"

मित्रो ! आज खाने-पीने के मामले में बड़ी गड़बड़ी चल रही है। पहले धर्म के लिए सात्विक भोजन किया जाता था पर आज स्वाद के खातिर पकवानों का भोजन किया जाता है। याद रखिए, पकवान जीभ को क्षण-भर के लिए भले ही तृप्त कर दें पर उनसे आयु क्षीण होती है—वे शरीर को जल्दी ही नष्ट कर डालते हैं। अगर आपको विश्वास न हो तो एक आदमी को पन्द्रह दिन

तक सिर्फ पकवानों पर रखकर और दूसरे को सिर्फ दाल रोटी पर रखकर देखा जा सकता है। दोनों के स्वास्थ्य की तुलना करने से आपको विदित होगा कि तन्दुरुस्ती के लिए क्या उपयोगी है और क्या हानिकारक है ?

आप अंट-सट खाकर जीभ की आराधना करते रहे और ईश्वर पद मिल जावे, यह कैसे सम्भव है ? जब तक इन्द्रियों की गुलामी नहीं छूटती तब तक ईश्वरत्व की प्राप्ति होना असंभव है।

आप भोजन करते हैं, मगर कुछ काम भी तो करना चाहिए। मेरा आशय साँसारिक प्रपचों से नहीं, ईश्वर-भजन से है। भोजन करने वाले को भजन भी करना ही चाहिए। रेल को चलाने के लिए एजिन में कोयला और पानी देकर स्टीम (वाष्प) पैदा की जाती है। अगर एजिन का ड्राइवर (चालक) एजिन को ही इधर-उधर घुमाया करे और उसके साथ डिब्बे न जोड़े तो क्या वह ड्राइवर रेलवे कम्पनी को कुछ लाभ पहुँचा सकता है ? क्या कम्पनी का व्यवस्थापक उसे उपालम्भ न देगा ? मित्रो ! आप अपने पेट रूपी एजिन को केवल भोजन ही कराया करोगे या उससे कुछ काम भी लोगे ? हाथ में सुन्दर छडी और कलाई पर सुनहरी घडी बाँध कर ऐंठ-अकड़ के साथ चलते रहोगे या परोपकार की गाड़ी—डिब्बे भी खींचोगे ? परोपकार करने का अवसर आने पर आप मुँह फेर लेते हो। कोई दुःखी प्राणी आप से बड़ी आशा और उत्सुकता के साथ कहता है—'प्यारे, हे मालिक, तुम्हारे हाथ से मेरा यह काम हो सकता है। कृपा करके मेरी थोड़ी-सी सहायता कर दीजिए।' तब आप में से बहुत से भाई क्या उत्तर देते हैं ? कहते हैं—'चल बे चल, तेरा काम करूँ या हवा खाने जाऊँ ! जा, अभी मेरे पास समय नहीं है। दिन-भर

अपने काम से फुर्सत नहीं और अब तुझ से सिरपच्ची कौन करे ? दोस्तो ! ऐसे स्वार्थ पर विचारों को धिक्कार दो। इस जीवन में जितना बन सके, दूसरों का उपकार करो।

धिक् तेरा जीवड़ा न करता धरम को धिक् तेरा तन धन धिक् है जीवन को।
पेट भर्यो पशुअन की नाईं, रात सोयो दिन यों ही गँवाई ॥
पापी को देख के शीस नमावे, धर्मी को देख के बहु अकड़ावे।
धिक् तेरी जननी जो तोइ जायो, नाम बिना सब थान लजायो ॥

यह उपालम्भ अपने लिए ही समझो। मूर्ख ड्राइवर की भाँति अकेला एंजिन ही मत घुमाया करो। कहते शर्म-सी मालूम होती है कि आप में से कई भाई इधर-उधर की लट-पट की बातें, घर-घर आग लगाने की बातें करते फिरते हैं, पर छोटा-सा परोपकार का कार्य भी उनसे नहीं होता। उनकी यह खटपट बेकाम हैं। मैं नहीं कहता कि तुम एकान्त परोपकार ही में लगे रहे— हालाँकि ऐसा कहा जा सकता है—पर मैं तो केवल यही कहता हूँ कि अपनी शक्ति के अनुसार अवश्य करो। जो मनुष्य परोपकार के गहरे तत्त्व को पहुँच जाता है, उसे दुनियाँ देवता की भाँति पूजती है। उसे जनता अपने हृदय का हार बना लेती है। उसके लिए सदा-सर्वदा अपना सर्वस्व समर्पण करने के लिए तैयार रहती है। शास्त्रों में और लौकिक इतिहास में ऐसे बहुत से जाज्वल्यमान उदाहरण मौजूद है।

मित्रो ! धर्म के इस तत्त्व को प्राप्त करके व्यवहार करोगे तो कल्याण होगा।

लूणियों की कोठी
भीनासर
३—८—२७

आघात-प्रत्याघात

प्रार्थना
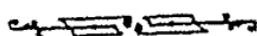
श्री आदीश्वर स्वामी हो, प्रणमूँ सिर नामी तुम भणी ॥
प्रभु अन्तर्यामी आप, मो पर म्हेर करीजे हो ।
मेटीजे चिन्ता मन तणी, म्हारा काट पुराकृत पाप ॥

यूरोपियन सज्जन टाल्सटाय एक बड़े विद्वान् और विचारशील पुरुष माने गये हैं। यह कोरे विद्वान् ही नहीं थे किन्तु उन्होंने अपना जीवन इतना उच्च बना लिया था कि वे एक आदर्श पुरुष गिने गये हैं, उनका जीवन दृढ़ धर्ममय था। उनके जीवन का एक-एक दिन ऐसा बीतता था कि उसकी छाप दूसरों पर पड़े बिना नहीं रहती थी। उनका जीवन कसाईखाना देख कर धर्ममय बना था।

कहते हैं, टाल्सटाय हमेशा कसाईखाने में पशुओं का वध देखने जाते थे। वहाँ जब पशुओं की गर्दन पर छुरी चलाई जाती थी तब उनके रोंगटे खड़े हो जाते थे। उस समय वे सोचते—

'हाय ! यह छुरी इसी तरह हमारी गर्दन पर चले तो हमें कितना कष्ट हो ! हम कितने छटपटाएँ ! बेचारे यह मूक प्राणी पराधीन हैं। अपनी रक्षा नहीं कर सकते ! परतंत्रता की जंजीर में जकड़े हुए इन प्राणियों को छुड़ाने वाला कौन है ?'

'यह बेचारे परतंत्र हैं, पर मारने वाला भी कौन स्वतन्त्र है ? वह भी परतंत्र है। वह परतंत्र न होता तो वह पापमय जीवन क्यों बिताता ? मारने वाला परतंत्र क्यों है ? कौन उसे गुलाम बनाये हुए हैं ? उत्तर मिलता है—मारने वाला तृष्णा, लोभ, मोह और अज्ञान आदि का दास है। वह मोह से अन्धा पुरुष प्राणियों का मांस खाकर अपना मांस बढाना चाहता है। वह असहाय, निर्बल और मूक प्राणियों की हत्या करके अपना पोषण करना चाहता है। वह दूसरो के प्राणों की परवाह न करके अपने प्राण बचाना चाहता है। उसे दूसरो की चिन्ता नहीं है। दूसरों का दुःख देख कर उसे करुणा नहीं आती मगर सोचना चाहिए कि यदि ऐसा ही समय मेरे लिए आवेगा तो मेरा क्या हाल होगा ?'

आखिर मनुष्य उन प्राणियों को किस कसूर से मारता है ? उन्होंने उसका क्या गुनाह किया है। जिससे वह उनके प्राणों का ग्राहक बनता है ? क्या उन प्राणियों ने उसका कुछ अपहरण किया है ? उसे गाली दी है ? उसका कुछ बिगाड किया है ? नहीं, तब वे क्यों मारे जाते हैं ?

यह तमाम वेचारे प्राणी भद्र हैं। इनमें वहुत से घास खाकर अपना गुजर करते हैं। ये प्रकृति की शोभा है। प्रकृति की शोभा को नष्ट करके आनन्द मानते हैं। इन मनुष्यों का मजा और वेचारों की कजा ! कजा में मजा मानने का कुछ हिसाब भी होता है ?

हाँ, होता क्यों नहीं है। लेकिन हम अपने शास्त्र की बात न कह कर यही बतलाना चाहते हैं कि पाश्चात्यों का इस विषय में क्या मत है? विज्ञान के जानने वालों ने इस सम्बन्ध मे अपनी क्या राय जाहिर की है?

उनका मन्तव्य है कि गति की प्रतिगति और आघात का प्रत्याघात अवश्य होता है। उदाहरण के लिए किसी पर्वत के पास जाकर आवाज दी जाय कि—'तुम्हारा बाप चोर!' तो उस ध्वनि की प्रतिध्वनि होगी—'तुम्हारा बाप चोर!' जैसी ध्वनि की जायगी वैसी प्रतिध्वनि होगी। अगर कोई अपने बाप को चोर कहलाना चाहे तो वह उक्त ध्वनि अपने मुँह से निकाले। न चाहे तो वह ध्वनि न करे। जैसे प्रतिध्वनि सुन कर अपने बाप को चोर कहा जाने के कारण तुम्हे दुःख होता है, उसी प्रकार दूसरे को भी दुःख होता है। अतएव जो स्वयं कटु शब्द नहीं सुनना चाहता उसे अपने मुँह से कटु शब्द नहीं निकालने चाहिए।

मंगल से मंगल और अमंगल से अमंगल होता है। आघात का प्रत्याघात होता रहता है। आज तुम जो पार्ट दूसरे से करवा रहे हो वही तुम्हें भी कभी करना पड़ेगा। सारांश यह है कि यदि तुम किसी को कष्ट दोगे तो तुम्हे कष्ट मिलेगा। अगर तुम किसी के प्राण लोगे तो तुम्हे भी प्राण देने पड़ेगे। शस्त्र से गर्दन उड़ाओगे तो कभी गर्दन उड़वानी पड़ेगी। दूसरे के शरीर का मांस खाओगे तो दूसरे को मांस खिलाना पड़ेगा।

हाँ, एक बात जरूर है। प्रकृति की शोभा को क्षति न पहुँचाते हुए, सरलता से, बिना किसी को कष्ट पहुँचाये, जो आहार प्राप्त किया जाता है उसे अधर्म नहीं कह सकते। धर्म किसी का नाश नहीं चाहता। जो मनुष्य न्याय-नीति से पैसा पैदा करना

है, उसे कोई चोर या बदमाश कह कर दंड देता है ? नहीं, पर
जो नीति-अनीति का कुछ भी खयाल नहीं करता, केवल पैसो से
अपना जेब भरना चाहता है उसे कोई क्या कहेगा ?

'चोर ! बदमाश !'

उसे दंड मिलेगा ?

'अवश्य !'

यही बात आहार प्राप्त करने में समझनी चाहिए। जो
अपने मौज-शौक के लिए, अपनी जीभ को तृप्त करने के लिए, मूक-
प्राणियों का मांस खाता है उसे भी दंड मिले बिना न रहेगा।

बालक माता के स्तन से दूध पीता है, यह उसका धर्म
अर्थात् स्वभाव है, पर जो बालक स्तन का खून पीना चाहता है
उसे क्या बालक कहेगा ? लोग उसे बालक नहीं, ज़हरीला कीड़ा
कहेंगे।

प्रकृति हमें गाय, भैंस आदि से दूध दिलाती है। इससे
हमारा बड़ा उपकार होता है। किन्तु हमारी अधीरता इन पशुओं
का जल्दी खात्मा कर एक-दो दिन पेट भर कर, अधिक दिनों
तक पेट भरने वाले घी दूध के स्रोत को बन्द कर देती है। मत-
लब यह कि लोग फलों को धीरे-धीरे आता देख कर वृक्ष का ही
मूलोच्छेदन कर डालते हैं।

किन्तु इस गरीब गूंगे प्राणियों की वकालत कौन करे ?
अचम्भे की बात है कि इनकी करुणा भरी चीख को सुन कर
हत्यारों का दिल पत्थर-सा क्यों बना रहता है ? विश्व के सर्व

श्रेष्ठ कहलाने वाले प्राणी का—मनुष्य का—अन्तःकरण इतना कठोर कैसे बन गया है ? वह हद दर्जे का अविवेकी क्यों हो गया है । इसका कारण मनुष्य की परतंत्रता है। मनुष्य को काम, क्रोध, मोह आदि ने अपने चङ्गुल में ऐसी बुरी तरह जकड़ लिया है कि वह कुछ कर नही पाता । उसकी बुद्धि पर काला पर्दा पड़ गया है, जिसके कारण कुछ भी नहीं सूझता ।

हाँ, बैठे हुए अधिकांश भाई अमांसाहारी हैं। वे सोचते होंगे—'केवल मांसाहारी ही पापी होते हैं। हम पाप से बचे हुए हैं।' लोगो को दूसरे की किसी बात की टीका सुन कर सन्तोष होता है, मजा आता है, परन्तु जब उनके किसी काम की टीका की जाती है तब उन्हें बुरा लगता है । लेकिन सच्चा आदमी तो वही है जो सच्ची बात कहे। हितचिन्तक उसी को समझना चाहिए जो श्रोता की रुचि-अरुचि की चिन्ता न करके श्रोता के हित की बात बतलाए। फिर श्रोता जिस व्यक्ति पर श्रद्धा रखता है, जिसे अपना पथप्रदर्शक मानता है, उस पर तो यह उत्तरदायित्व और अधिक है कि वह अपने श्रोता को सत्य बात कहे। ठीक ही कहा है—

> रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परियत्तउ ।
> भासियव्वा हिया भासा, सपक्खगुणकारिया ॥

चाहे कोई रुष्ट हो, चाहे तुष्ट हो, चाहे विष ही क्यों न उगलने लगे, लेकिन स्वपक्ष को लाभ पहुँचाने वाली, हितकर बात तो कहना ही चाहिए ।

जो व्यक्ति अपने श्रोता का लिहाज करता है, अपने श्रोता की अरुचि का विचार करके उसे सत्य तत्त्व का निदर्शन नहीं

कराता, वरन् उसे प्रसन्न करने के लिए मीठी-मीठी, चिकनी-चुपड़ी बातें करता है, वह श्रोता का भयंकर अपकार करता है और स्वयं अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है। रोगी की अरुचि का विचार करके उसे आवश्यक कटुक औषधि न देकर, उसके बदले मिष्टान्न खिलाने वाला व्यक्ति क्या रोगी का सच्चा हितैषी है ?

हाँ, तो जो भाई केवल मांसाहारियों को ही पापी समझता है, उसे अपने थोकड़े खोलकर देखना चाहिए कि पाप कितने होते हैं। हिंसा के अतिरिक्त और भी कोई पाप है या नहीं ? क्या उन पापों का आचरण करने वाला पापी नहीं गिना जायगा ?

जैन-शास्त्र में अठारह प्रकार के पाप बताये गये हैं। जैसे हिंसा, झूठ, चोरी, जारी, क्रोध, मान आदि। जो इन पापों का सेवन करता है और धर्मात्मा बनने की डींग मारता है वह क्या वास्तव में धर्मात्मा है ? नहीं।

'पाप से बचना चाहिए और धर्म का आचरण करना चाहिए' यह बात बहुत से भाई कहते हैं परन्तु पापों से बचने का और धर्माचरण करने का प्रयत्न बहुत कम लोग करते हैं। यह लोग कसाई को बुरा कहते हैं, उसे पापी समझते हैं, पर स्वयं जालसाजी करने से बाज नहीं आते, कपट करने से नहीं चूकते, दूसरों पर दोष मढ़ना नहीं भूलते, गरीबों के गले दबोचने में भय नहीं खाते, झूठे मुकदमे चलाने मे शर्म नहीं लाते, झूठी गवाई पेश करने में पीछे पैर नहीं धरते, दूसरे के धन का स्वाहा करने में नहीं हिचकते, पराई स्त्रियों पर खोटी नजर रखने में घृणा नहीं करते, कहाँ तक कहा जाय, ये पाप करते हैं पर पापी कहलाने में अपनी तौहीन समझते हैं। कसाई छुरी फेर कर कत्ल करता है पर

ये कलम चला कर कई बार, कइयों की एक ही साथ हत्या कर डालते हैं। कसाई हत्या करके हत्यारा कहलाता है, मगर ये इस प्रकार की हत्याएँ करके भी धर्मात्मा बने रहते हैं।

इन बेचारों को यह नहीं मालूम कि जैसे हम फँसाते हैं वैसे ही हम फँसाये जाएँगे। हम मारते हैं तो कभी मारे भी जाएँगे। आघात का प्रत्याघात हुए बिना नहीं रहेगा।

मित्रो ! शास्त्र कहता है, एक बार तमाम प्राणियों को अपनी आत्मा के तुल्य देख जाओ, फिर पता लग जायगा कि दूसरों का दुःख कैसा होता है !

आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति।

समस्त प्राणियों को आत्मा के तुल्य देखने पर सुख-दुःख की साक्षी तुम्हारा हृदय अपने आप देने लगेगा। आपको फिर शास्त्रों के देखने की जरूरत नहीं रहेगी। सच्चिदानन्द स्वयं ही शास्त्रों का सार बता देगा। कल्पना कीजिए—एक आदमी आपकी गर्दन पर तलवार मारना चाहता है। वह समझता है, मारना मेरा धर्म है। उसी के पास खड़ा हुआ दूसरा आदमी मारने वाले से कहता है—खबरदार, हाथ मत उठाना ! इस प्रकार एक आदमी मारने के लिए उद्यत होता है और दूसरा बचाने के लिए तैयार होता है। अब अपने अन्तःकरण को साक्षी बनाकर सोच लीजिए कि आपको इनमें से कौन अच्छा लगता है ?

'बचाने वाला !'

इस निर्णय के लिए किसी शास्त्र की आवश्यकता है ?

'नहीं !'

अगर कोई किसी शास्त्र का उद्धरण देकर कहे कि मारने वाला अच्छा है तो आप क्या कहेंगे ?

'यही कि शास्त्र झूठा है।'

तो सारांश यह है कि सच्चिदानन्द की शक्ति अद्भुत है। इसमें अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति विद्यमान है। इस पर विश्वास लाओ। इसकी ओर दृष्टि लगाओ। अन्तर्दृष्टि बनोगे तो अपूर्व प्रकाश मिलेगा।

प्रह्लाद अग्नि में डाल दिया गया मगर वह भस्म नहीं हुआ। तब दैत्यों ने पूछा—'ऐ प्रह्लाद! तुमने यह शक्ति कैसे पाई है!' प्रह्लाद ने कहा—

सर्वत्र दैत्या समतामुपेत्य,
समत्वमाराधनमच्युतस्य ॥

हे दैत्यो ! समता धारण करो। तुम्हारे भीतर भी वह शक्ति आ जायगी।

प्रह्लाद को कितना कष्ट दिया गया था। वह शस्त्र से काटने पर भी न कटा। जहरीले सर्पों से डँसाया गया पर जहर का कुछ भी असर न हुआ। मदोन्मत्त हाथियों के पैरों के नीचे कुचलवाने के लिए डाला गया पर हाथी उसे कुचल न सके। वह पर्वत पर से पटका गया मगर चूर-चूर न हुआ। उसे भस्म करने के लिए आग में डाला, पर आग ठण्डी हो गई। यह सब किसका चमत्कार था? आत्म-शक्ति का। अमोघ आत्मिक-शक्ति के आगे तमाम भौतिक शक्तियाँ वेकाम हो गईं।

यह विज्ञान का युग है। लोग प्रमाण दिए विना किसी वात को स्वीकार नहीं करना चाहते। वे अपने वाह्य ज्ञान से समझते हैं कि आग एक आदमी को जलावे और दूसरे को न जलावे, यह कैसे हो सकता है? क्या यह सम्भव है कि शस्त्र से एक आदमी कटता है और दूसरा नहीं, विष-पान करने से एक का प्राणान्त होता है और दूसरे का नहीं। मगर आत्मवल की महिमा समझ लेने पर इस प्रकार की आशंकाएँ निर्मूल हो जाती हैं। आध्यात्मिक वल के समक्ष भौतिक शक्तियाँ क्षुद्र वन जाती हैं। आग ने क्या सीता को जलाया था ?

'नहीं !'

क्यों ? क्या अग्नि भी पक्षपात में पड़ गई थी ? उसे किसने सिखाया कि एक को जला और दूसरे को नहीं ? शस्त्र का काम काट डालना है पर उसने कामदेव श्रावक को क्यों नहीं काटा ? शस्त्र क्या अपना स्वभाव भूल गया था ? विष खाने से मनुष्य मर जाता है, मगर मीरा वाई क्यों न मरी ? क्या विष अपने कर्त्तव्य से चूक गया था ? सत्य यह है कि आत्मवली के सामने अग्नि ठंडी हो जाती है, शस्त्र निकम्मा हो जाता है और विष अमृत वन जाता है। इस सत्य की साक्षी शास्त्र ही नहीं वरन् इतिहास, प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुभव दे रहा है।

कृष्णाकुमारी की वात अधिक पुरानी नहीं है। वह मेवाड़ के राणा भीमसिंह की कन्या थी। कहा जाता है कि उसकी सगाई पहले जोधपुर की गई थी पर कारणवश वाद में जयपुर कर दी गई। जोधपुर वाले चाहते थे कि इसका विवाह हमारे यहाँ हो और जयपुर वालों की भी यही इच्छा थी।

कृष्णाकुमारी अपने समय मे राजस्थान की अद्वितीय सुन्दरी थी। उसके सौन्दर्य की महिमा चारो ओर फैली हुई थी। ऐसी स्थिति में उसे कौन छोड़ना चाहता ? जिस पर प्रतिष्ठा का भी प्रश्न था।

विवाह की निश्चित तिथि पर जयपुर और जोधपुर वाले दोनों व्याहने जा पहुँचे। जयपुर वालों ने कहलाया—'अगर कृष्णाकुमारी हमें न दी गई तो रण-भेरी बज उठेगी।' जोधपुर वालों ने कहलाया—'अगर कृष्णाकुमारी का विवाह हमारे यहाँ न किया गया तो हम मेवाड़ को धूल में मिला देंगे!'

राणा भीमसिंह कायर था। वह मरने से डरता था। उसे उन खूंख्वार भेड़ियों को कुछ भी जवाब देने की हिम्मत न हुई। वह मन ही मन घुल रहा था। उसे समझ नहीं पड़ता था कि इस समय क्या करना चाहिए और क्या नहीं ? आखिर किसी ने उसे सलाह दी—इस विपदा का कारण राजकुमारी कृष्णाकुमारी है। अगर इसे मार दिया जाय तो झगड़ा ही खत्म हो जाय। फिर न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।

प्रताप के शुद्ध वंश में कलंक लगाने वाले और मातृ-भूमि के उन्नत मस्तक को नीचा करने वाले कायर राणा ने यह सलाह मान ली।

सलाह को कार्य में परिणत करने के लिए हृदयहीन डर-पोक राणा ने अपनी प्यारी पुत्री को दूध में विष मिलाकर अपने ही हाथों से पीने के लिए प्याला दे दिया। भोली-भाली कुमारी को कुछ पता न था। उसने समझा—'सदा दासी दूध का प्याला लाकर देती है, आज प्रेम के कारण पिताजी ने दिया है।'

कृष्णाकुमारी विषमिश्रित दूध पी गई पर उस पर ज़हर का तनिक भी असर न हुआ। दूसरे दिन उस हत्यारे राणा ने फिर विषमय दूध का प्याला दिया। कुमारी को किसी प्रकार की शंका तो थी ही नहीं, वह फिर उसे गटगट पी गई। आज भी विष का प्रभाव नहीं हुआ। तीसरे दिन फिर यही घटना घटने वाली थी कि किसी प्रकार कुमारी के कान में बात पड़ गई। उसने सोचा—'हाय! मुझे मालूम ही नहीं हुआ, अन्यथा पिताजी को इतना कष्ट न देती। मेरी ही बदौलत मेरी मातृभूमि पर घोर संकट आ पड़ा है। अगर मैं पुरुष होती तो युद्ध में प्राण निछावर करके मातृ-भूमि की सेवा करती। मगर खैर, आज पिताजी विषैला दूध पिलाने आयेंगे तो उसे पीकर मातृ-भूमि का संकट टालने के लिए अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दूंगी।

आखिर वही हुआ। कृष्णा ने विषमिश्रित दूध का प्याला पीकर अपने प्राण दे दिये। आज मेवाड़ के इतिहास में उसका नाम सुनहरे अक्षरों मे लिखा हुआ है।

इस कथा से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विष दो दिनों तक अपना असर क्यों नहीं दिखा सका? और तीसरे दिन उसने क्यों प्रभाव डाला? इसका उत्तर यह है कि दो दिन उसे उसका पता ही नहीं था—कृष्णा की मृत्यु की भावना ही नहीं थी। वह पिता के द्वारा दिये हुए दूध को अमृत के समान समझ रही थी। इसी मनोबल की शक्ति से विष उसका बाल भी बाँका न कर सका। तीसरे दिन वह मनोबल नहीं रहा। उसने विष को विष समझकर पिया, इसलिए उसकी मृत्यु हो गई। यह भावना-बल, मनोभावना या आत्मबल का प्रताप है। सुदृढ़ मनोबल के सामने

विष और शस्त्र आदि अपने स्वभाव को छोड़ देते हैं। उनकी शक्ति भावनाबल से प्रतिहत हो जाती है।

सीता की अग्नि परीक्षा हुई। मगर अग्नि उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकी। जो लोग निसर्गतः अश्रद्धालु हैं वे भले ही इस बात को स्वीकार न करें, पर अमेरिका और यूनान आदि के इतिहास में इसकी पुष्टि में प्रमाण मिलते हैं। निकट भूतकाल में भी इस बात को सत्य सिद्ध करने वाली अनेक घटनाएँ घटी हैं। जो आत्म-तत्त्व के ज्ञाता हैं, उन्हें मालूम है कि आत्मा में अनंत शक्ति भरी पडी है। आत्मा की शक्ति का पारावार नहीं है। आवश्यकता है उसे विकसित करने की। आत्मिक शक्तियों का आविर्भाव और विकास किस प्रकार होता है, यह आज का विषय नहीं है। शास्त्र मे इस सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है। बेचारे बकरे को आत्म-बल का भान नहीं है। अतएव वह मरते समय 'बें-बें' करता है और मारा जाता है। अगर उसकी सोई हुई आत्मशक्तियाँ जाग उठें, उसे आत्मबल का भान हो जाय तो किसकी मजाल है जो उसे काट सके!

मित्रो! आप लोग यह न समझें कि आपकी और दूसरों की आत्मा मे कोई मौलिक अन्तर है। आत्मा मूल स्वभाव से सर्वत्र एक समान है। जो सच्चिदानन्द आपके घट में है वही घट-घट में व्याप रहा है। इसलिए समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझो। किसी के साथ वैर-भाव न करो। किसी का गला मत काटो। किसी को धोखा मत दो। दगाबाजी से बाज आओ। अन्याय से बचो। परस्त्री को माता के रूप में देखो।

भाइयो! आप लोग जब मुकदमा लड़ते हैं तो वकील को अपना मुख्तारनामा दे देते हैं, क्योंकि उस पर आप विश्वास करते

हैं। मगर क्या आप मेरा विश्वास कर जीवन के मुकदमे को सुलझाने के लिए मुझे मुख्तारनामा दे सकते हैं ?

(चुप्पी)

क्या आपको मुझ पर विश्वास नहीं है ? आप सोचते होंगे—'महाराज कहीं मूंड़ कर हमें बाबा न बना लें !'

मित्रो ! ऐसा खयाल मत करो। मैं आपको जबर्दस्ती, आपकी इच्छा के विरुद्ध, चेला नहीं बनाऊँगा। मै आपको अपना सर्वस्व त्यागने का उपदेश नहीं दे रहा हूँ, अगर आप वह त्याग दें तो आपके लिए सौभाग्य की बात अवश्य होगी। अभी मैं सिर्फ यह कहता हूँ कि सब के साथ प्रेम करो, समदृष्टि बनो और जिसे हज़ार-दो हज़ार रुपये कर्ज दिये है, उस पर ब्याज का ब्याज चढ़ाकर हिसाब को तोड़-मरोड़ कर दुगुने-तिगुने मत बनाओ। अन्याय से धनोपार्जन मत करो। हक पर चलो। तुम्हें सच्चिदानन्द की दिव्य झाँकी दिखाई देगी।

हिंडोला चक्कर खाता है। उस पर बैठने वाले को भी चक्कर आने लगते हैं। इतना ही नहीं, हिंडोले से उत्तर जाने के पश्चात् भी चक्कर आते रहते है। इसी प्रकार संसार-चक्र सदा घूमता रहता है। जब आप हट जाएँगे तब कुछ समय तक आपको चक्कर आते रहेंगे। मगर हिंडोले के चक्करों के समान थोड़े समय के बाद आपके चक्करों का अन्त हो जायगा। उकताने की जरूरत नहीं है।

एक आदमी भरे समुद्र को लकड़ी के टुकड़े से उलीच रहा था। किसी ने उससे कहा—'अरे पगले, समुद्र इस प्रकार खाली कैसे होगा ?' तब उसने उत्तर दिया—'भाई, तुम्हें पता नहीं है।

इस समुद्र का अन्त है मगर इस–आत्मा–का अन्त नहीं है। कभी न कभी खाली हो ही जायगा।'

मित्रो ! यह दृढ़तर आत्म-विश्वास का उदाहरण है। ऐसे विश्वास से काम करोगे तो सफलता आपकी दासी बन जायगी। विजय आपकी होगी। आधे मन से, ढिलमिल विचार से, किसी कार्य को आरम्भ मत करो। चञ्चल चित्त से कुछ दिन काम किया और शीघ्र ही फल होता हुआ दिखाई न दिया तो छोड़-छाड़ कर दूर हट गये; यह असफलता का मार्ग है। इससे किया-कराया काम भी मिट्टी में मिल जाता है।

हालैण्ड में एक बादशाह राज्य करता था। उसकी रानी बहुत सुन्दरी थी। रानी के सौन्दर्य पर मोहित होकर दूसरे बादशाह ने, जो हालैण्ड के बादशाह का चचा लगता था—चढ़ाई कर दी। हालैण्ड का बादशाह अर्थात् आक्रमणकारी का भतीजा हार कर भाग गया। विजेता बादशाह राजमहल में गया। उसने अपने भतीजे की पत्नी से कहा—'प्रिये ! तू तनिक भी मत घबराना। मैं तेरे सौन्दर्य पर मोहित हूँ। तेरे लिए ही मैंने यह लड़ाई लड़ी है। अब मैं तुम्हारी प्रसन्नता प्राप्त कर सुख-भोग करना चाहता हूँ। तुम्हारा पति हार कर भाग गया है। उसके लिए चिन्ता मत करो। अब मुझे ही अपना पति समझ कर सुख पूर्वक रहो।'

रानी सती थी। उसने सोचा—'सच्ची-सच्ची बात कहने से इस समय काम नहीं चलेगा।' अपने सतीत्व की रक्षा के लिए उसने नीति से काम लेने का निश्चय किया। वह नम्र-भाव से, हँसती हुई कहने लगी—'आपका कथन ठीक है, पर मैं आपसे

और सफलता पाने मे समर्थ हुआ। उसे अपनी पत्नी के साथ पुनः हालेन्ड का राज्य मिला!

मित्रो! यह एक ऐतिहासिक कथा है। इस कथा को कहने का मेरा आशय आप न समझे होंगे। इसका आशय यह है कि जैसे रानी दिन को साड़ी बुनती और रात को उसका एक-एक तार जुदा कर देती थी, फलतः अन्त तक साड़ी तैयार न हुई, इसी प्रकार आप लोग थोड़ी देर सामायिक करो और उसके बाद फिर असत्य भाषण करो, मायाचार करो, किसी का गला काटो और पराई स्त्री को ताकते फिरो, तो ऐसी दशा में सामायिक कैसे सफल होगी?

आगे-आगे कदम बढ़ाते रहने से लम्बा रास्ता भी कभी न कभी तय हो जाता है, पर पीछे पैर धरने से जहाँ थे, वहाँ आजाओगे।

एक शहर में डाके बहुत पड़ते थे। वहाँ के महाजनों ने सोचा—हमेशा की यह आफ़त बुरी है। चलो सब मिलकर डाकुओं का पीछा करें। उन्हें पकड़ें। सब महाजन तैयार हुए। शस्त्र बाँध कर शाम के समय जंगल की तरफ रवाना हुए। रास्ते में विचार किया—डाकू आधी रात को आवेंगे। सारी रात खराब करने से क्या लाभ है? अभी सो जाएँ और समय पर जाग उठेंगे।

सब महाजन पक्तिवार सो गये। उनमें जो सब से आगे लेटा था, वह सोचने लगा—'मैं सब से आगे हूँ। अगर डाकू आए तो पहला नम्बर मेरा होगा। सब से पहले मुझ पर हमला होगा। मैं पहले क्यों मरूँ? डाका तो सभी पर पडता है और मैं पहले मरूँ, यह कौन-सी बुद्धिमत्ता है? अच्छा है, मैं उठ कर सब के पीछे चला जाऊँ!'

वह सब के अन्त में आकर सो गया। अब तक जिसका दूसरा नम्बर था उसका पहला नम्बर हो गया। उसने भी यही सोचा—'पहले मै क्यो मरूँ ?' और वह उठा और सब के अन्त में सो गया। इसी प्रकार वारी-वारी सब खिसकने लगे। सुबह होते-होते जहाँ थे वहीं वापस आ गये।

लड़ाई का काम वीरों का है। वीर पुरुष ही न्याय की प्रतिष्ठा और अन्याय के प्रतीकार के लिए अपने प्राणों की चिन्ता न करके जूझ पड़ते हैं। डरपोक उसमें फतह नहीं पा सकते। जिनके लिए प्राण-रक्षा ही सब कुछ है, जिन्होंने जीवन को ही सर्वोच्च आराध्य मान लिया है, वे अन्याय वर्दाश्त कर सकते हैं, गुलामी को उपहार समझ सकते हैं और अपने अपमान का कड़ुवा घूंट चुपचाप पी सकते हैं। वे महाजन जीवन के गुलाम थे। इसी कारण वे लड़ाई के लिए निकल कर भी ठिकाने पहुँच गये।

मित्रो ! जो कदम आपने आगे रख दिया है उसे पीछे मत हटाओ। तभी आप विजयी होंगे। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए आपको वीरों में भी वीर बनना पड़ेगा। किसी ने ठीक ही कहा है—

हरिनो मारग छे शूरानो, नहि कायरनो काम जो ने।

दूसरी लड़ाइयों में तो कदाचित् मौका पड़ने पर ही सिर कटवाना पड़ता है पर हरि को अर्थात् सच्चिदानन्द को प्राप्त करने के लिए पहले ही सिर कटवा कर लड़ना पड़ता है। मगर यहाँ सिर कटवाने का आशय यह नहीं कि जैसे आप पगड़ी उतार कर रख देते हैं वैसे सिर भी धड़ से अलग करना पड़ता है। यहाँ सिर उतारने का अर्थ है, देह के प्रति अहंकार और ममता का त्याग करना। शरीर को खोखा मानना चाहिये और आत्मा को—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
नैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
—गीता अ० २, श्लो० २३—२४

आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल गला नहीं सकता और हवा सोख नहीं सकती।

आत्मा कटने योग्य नहीं है, जलने योग्य नहीं है, गलने योग्य नहीं है, सोखने योग्य नहीं है। आत्मा नित्य-अजर अमर है, वह अपनी ज्ञान शक्ति के द्वारा व्यापक है, वह दूसरे द्रव्य रूप में कभी परिणत नहीं होता, मूल स्वभाव से वह अचल है—कभी उसके गुण बदलते नहीं हैं। वह सनातन है।

शूरवीर पुरुष ऐसा सोचते हैं। शरीर को आत्मा समझने वाला और धन का लोभी ऐसा नहीं समझ सकता। कहा है—

बंदा क्या जाने बंदगी माया का गुलाम।
बंदा क्या जाने बंदगी जोरू का गुलाम॥

जिसने माया के प्रति विमुखता धारण कर ली है जिसने आत्मा को समस्त सासारिक पदार्थों से निराला समझ लिया है, जो धन का दास नहीं है वही प्रभु की भक्ति कर सकता है। जिसे स्त्री का मोह नहीं है वही भगवद्-भक्ति का आनद लूट सकता है।

माया का मालिक होना और बात है और गुलाम होना और बात है। माया का गुलाम माया के लिये झूठ बोल सकता है, कपटाचार कर सकता है, मगर माया का मालिक ऐसा नहीं

करेगा। अगर न्याय नीति के अनुसार माया रहे तो वह उसे रक्खेगा, अगर वह अन्याय के साथ रहना चाहेगी तो उसे निकाल बाहर करेगा। यही बात अन्य सांसारिक सुख-सामग्री के सम्बन्ध मे समझनी चाहिए।

मित्रो! इस कसौटी पर अपने आपको कस देखो कि आप माया के मालिक हैं या गुलाम हैं?

दर्पण आपके हाथ में हैं। अपना-अपना मुँह देख कर लगी हुई कालिख पोंछ डालिए।

जिसने स्त्रियों की गुलामी की उसकी क्या गत हुई? रावण की ओर देखिए। उसने मन्दोदरी की मालिकी छोड़कर सीता का गुलाम बनना चाहा तो उसका सर्वनाश हो गया।

मित्रो! माया के और स्त्री के गुलाम मत बनो, मालिक बनो। उसे अपने जीवन पर मत लदने दो। उसे अपना बोझ मत बनाओ। सच्चिदानन्द को प्राप्त करो। यही सब धर्मों का सार है। ऐसा करने पर आपको किसी प्रकार का कष्ट न रहेगा। आपको सर्वत्र कल्याण ही कल्याण दृष्टिगोचर होगा।

भीनासर
१४—८—२७

सच्चिदानंद

प्रार्थना

श्रीजिन अजित नमूँ जयकारी, तू देवन को देवजी।
'जितशत्रु' राजा ने 'विजया' राणी को, आतमजात त्वमेवजी ।।
श्रीजिन अजित नमो जयकारी ।। श्री० ।।

प्रत्येक प्राणी सुख की तलाश में है। दुःख किसी को प्रिय नहीं लगता। सभी दुःख से बचना चाहते हैं। प्रत्येक प्राणी सुख के लिए सदा संघर्ष करता रहता है। सुख प्राप्त करने के लिए मनुष्य ने बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ीं, पर सुख नहीं मिला। अगर कभी किसी को सुख मिला भी तो क्षण भर के लिए। फिर उसी सुख में से दुःख फूट पड़ा। जिस सुख में से दुःख फूट निकलता है उसे सुख न कह कर अगर दुःख का बीज कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

आज साइंस-विज्ञान की उन्नति की दौड़ हो रही है। उसका उद्देश्य क्या है ? सुख की खोज। जब तक सच्चा और

स्थायी सुख न मिल जाय तब तक सुख की खोज जारी ही रहेगी। यह खोज सुख तक पहुँच सकेगी या नही, और यदि पहुँची तो कब तक, यह तो नहीं कहा जा सकता, पर इसमें दिन प्रति दिन जो उत्साह दिखाया जा रहा है उसे देख कर यही कहना पड़ता है कि यह एकाएक थकने वाली नहीं है।

साइंस किस सुख को असली सुख मानेगा? इसकी गति भलाई की ओर हो रही है या बुराई की ओर? इस सबंध मे कुछ टीका-टिप्पणी न करके साइंस के चकाचौध से चकित होने वालों से कुछ कहना उचित प्रतीत होता है।

कुछ भाई साइंस द्वारा आविष्कृत ऐंजिन को देख कर अत्यन्त आश्चर्य करते हैं। मैं इन भाइयों से प्रश्न करता हूँ कि ऐंजिन आश्चर्यजनक है या ऐंजिन का आविष्कर्त्ता?

'ऐंजिन का आविष्कर्त्ता!'

आविष्कर्त्ता आश्चर्यजनक क्यों है? इसीलिए कि उसके भीतर ऐसे-ऐसे अद्भुत कल-पुर्जे हैं कि उसने ऐंजिन का निर्माण कर दिखाया है। अगर ऐंजिनियर में ऐसी शक्ति न होती तो ऐंजिन का निर्माण नहीं हो सकता था।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऐंजिनियर के भीतर ऐसा कौन सा ऐंजिनियर बैठा है जो ऐसे-ऐसे और इससे भी—बढ़कर आश्चर्य में डालने वाले अद्भुत काम कर डालता है? उत्तर मिलेगा—ऐंजिनियर के भीतर जो ऐंजिनियर है उसका नाम है—आत्मा। यह आत्मा सिर्फ ऐंजिनियर के अन्दर ही नहीं, वरन् तमाम छोटे-बड़े प्राणियों में मौजूद है।

इस आत्मा मे जबर्दस्त शक्ति है। वह संसार को उथल-पुथल कर सकती है। जिस साइंस ने आज संसार को कुछ का कुछ बना दिया है उसके मूल में आत्मा की ही शक्ति है। आत्मा न हो तो साइंस का काम एक क्षण भी नहीं चल सकता क्योंकि वह स्वयं जड़ है।

जड़ साइंस के चकाचौंध मे पड़ कर साइंस के निर्माता-आत्मा को नहीं भूल जाना चाहिए। अगर तुम साइंस के प्रति जिज्ञासा रखते हो तो साइंस के निर्माता के प्रति भी अधिक नहीं तो उतनी ही जिज्ञासा अवश्य रक्खो। साइंस को पहचानना चाहते हो तो आत्मा को भी पहचानने का प्रयत्न करो।

आत्मा की पहिचान कैसे की जाय ? लक्षणों से। आत्मा का लक्षण क्या है ? शास्त्र बतलाता है—सत्, चित् और आनंद।

सत्, चित, आनन्द किसे कहते हैं ? सत् का मतलब क्या है ? चित् किसे कहते हैं ? और आनन्द का अर्थ क्या है ? इसका उत्तर सुनिये—

प्रश्न—सत् किम् ?

उत्तर—कालत्रयेऽपि तिष्ठतीति आत्मा सत्।

प्रश्न—चित् किम् ?

उत्तर—साधनान्तरनैरपेक्ष्येण स्वयं प्रकाशमानतया पदार्थावभासनमस्तीति आत्मा चित्।

प्रश्न—आनन्दः कः ?

उत्तर—देश-काल-वस्तुपरिच्छेदशून्य. आत्मा-आनन्दः। इत्यात्मन. सच्चिदानन्दरूपत्वम् ।

जो भाई संस्कृत-भाषा जानते हैं वे सच्चिदानन्द की व्याख्या समझ गये होंगे । जो संस्कृत नहीं जानते उन्हें जरा विस्तार के साथ कहने से सच्चिदानंद का रहस्य मालूम हो जायगा।

संस्कृत में सत् का जो अर्थ किया गया है उसका आशय यह है कि तीनो कालों मे जिसका नाश न हो, जिसे जिस समय देखें उसका वही रूप सदा नज़र आवे उसे सत् या सत्य समझना चाहिए। जो एक क्षण दिखाई दे और दूसरे क्षण न दिखाई दे वह 'सत्' नहीं है।

शास्त्र ने आत्मा का एक लक्षण सत् बतलाया है। आत्मा अपने शरीर के अन्दर है। कोई यह प्रश्न उठा सकता है कि आपने कहा है 'जिसे जिस समय देखें तब उसका वही रूप नज़र आवे उसे सत् समझना चाहिए।' मगर यह लक्षण आत्मा मे नहीं पाया जाता। मैं पहले बच्चा था, बाद मे युवक बना और अब वृद्ध हूँ। इस प्रकार तीन अवस्थाएँ कैसे बदल गईं ?

इसका उत्तर यह है कि यहाँ बाल, युवा, वृद्ध अवस्थाओं का जो परिवर्त्तन दिखाई देता है वह शरीर की अवस्थाएँ हैं—आत्मा की नहीं। आत्मा में न तो कभी परिवर्त्तन होता है, न कभी होगा। यदि इसमे आपको कुछ शंका हो तो आपकी शंका के शब्द ही आपकी शका का समाधान कर देंगे।

यह किस प्रकार ? इसे समझ लीजिए। आप कहते हैं—पहले बच्चा था, मैं युवक बना, मैं वृद्ध हूँ।' यहाँ जिसे आप

'मैं', कहते हैं वह 'मैं' कौन है ? आपके 'मैं' को सब पता है। वह भलीभांति जानता है कि जो 'मैं' बच्चा था, वही 'मैं' युवक हुआ और वही अन्त में वृद्ध हुआ है। अगर आपके खयाल के अनुसार वह बदलता रहा होता तो उसे इस बदलने की बात की खबर न होती। इससे साफ जाहिर है कि 'मैं' बदला नहीं, वरन् उसने तीनों अवस्थाओं में मौजूद रह कर बदलना देखा है। इसलिए जो स्वयं बदलता नहीं है परन्तु शरीर के बदलने का अनुभव करता है वही 'मैं' आत्मा है। इस प्रकार उसमे बदला न होने से वह 'सत्' है।

कभी मैंने बतलाया था कि पृथ्वी के कणों मे परिवर्त्तन होता रहता है, जल के बिन्दुओ का रूपान्तर हो जाता है, इसी प्रकार दूसरी वस्तुओ का भी बदला होता रहता है, पर आत्मा का न कभी बदला हुआ है, न होता है और न होगा। जो सत् है वह सत् ही रहेगा। सत् असत् नहीं हो सकता और असत् सत् नहीं हो सकता। गीता ने भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की है—

नासतो विद्यते भावो, नाभावो जायते सत ।

अर्थात् जो पदार्थ असत् है—जिसमें 'नहीं है' ऐसी प्रतीति होती है वह सत् नहीं हो सकता, और जो पदार्थ सत् है वह सत ही रहेगा। वह सत् से असत् कभी नही हो सकता। उदाहरण के लिए, इस पट्टी को लीजिए। मेरे हाथ में लकड़ी की जो पट्टी है, यह पहले किसी वृक्ष का अग थी। वृक्ष से भी पहले वह किन्हीं परमाणुओं के रूप में थी। समय आने पर फिर कभी परम
बदल जायगी। इस पट्टी पर्याय का बदलना पट्टी का अस
प्रकट कर रहा है। पट्टी अपने वर्त्तमान रूप में सत् नहीं है

छुरी चलाई। उसका सिर धड़ से अलग हो गया। पर उसके अन्दर रही हुई आत्मा के टुकड़े नहीं हुए। वह ज्ञानघन आत्मा सूक्ष्म रूप में ज्यों की त्यों है। यह आत्मा का सत्पना है।

सत् का अर्थ व्यापक है। द्रव्य रूप से पुद्गल आदि पदार्थ भी सत् हैं अतएव उनको जुदा करके समझने के लिए आत्मा का दूसरा रूप 'चित' है। 'चित्' के द्वारा आत्मा के असाधारण रूप का पता लगता है। जो स्वयं प्रकाशमान है, जिसे प्रकाशित करने के लिए किसी और की सहायता अपेक्षित नहीं है उसे 'चित्' कहा गया है। शास्त्र का कथन है कि आत्मा सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान है। आत्मा सूर्य को देख सकता है पर सूर्य आत्मा को नहीं देख सकता। इस बात को प्रकाशित करने वाला भी आत्मा स्वयं ही है। साधना के द्वारा विकास को प्राप्त करने वाला आत्मा इस रहस्य का उद्घाटन करता है। एक व्यक्ति दीपक लेकर अन्धकार से व्याप्त कमरे में प्रवेश करता है। वह वहाँ की समस्त दृश्य वस्तुओं को देखता है और साथ ही दीपक को भी देखता है। यह दीपक उसको नहीं देखता, क्योंकि दीपक जड़ है। हम सूर्य को नेत्रों द्वारा देखते हैं, पर वास्तव में देखने की शक्ति नेत्रों की नहीं, आत्मा की है। नेत्र केवल कारण होते हैं। दर्शन-क्रिया का कर्त्ता तो आत्मा ही है। आत्मा न होता तो सूर्य के दर्शन न होते।

अब आत्मा के तीसरे रूप 'आनंद' को लीजिए। 'आनंद' से भी आत्मा का पता चलता है। आनन्द किसे कहते हैं? जिसमें देश, काल और वस्तु से बाधा न पड़ती हो और जो अनुकूल संवेदन रूप होता है उसे आनन्द कहते हैं। यों तो साधारणतया इन्द्रियों से आनन्द का पता लगता है परन्तु पूर्ण आनन्द इन्द्रियों से परे है।

एक आदमी ने मिठाई खाई। वह कहता है—बड़ा आनन्द आया। पर शास्त्र कहता है—'आनन्द मिठाई खाने में नहीं है।' आप कह सकते हैं कि अगर मिठाई खाने में आनन्द नहीं है तो लोग खाते क्यों हैं? रोग आदि हानि की परवाह न करके, पैसे खर्च करके लोग मिठाई खाते हैं और आप कहते हैं—'आनन्द मिठाई खाने में नहीं है।' इसका संक्षेप में उत्तर यह है कि अगर मिठाई आनन्द रूप हो तो मुर्दे के मुँह में मिठाई डालिए, क्या उसे आनन्द आयगा? नहीं। इसीसे कहते हैं कि आनन्द मिठाई में नहीं, पर मिठाई से परे है।

अच्छा, मुर्दे को जाने दीजिए। कोई जीवित पुरुष भरपेट मिठाई खा चुके, तब उसके सामने पाँच-दस सेर मिठाई रख कर, लट्ठ तान कर सामने बैठ कर कोई उसे खाने के लिए बाध्य करे तो खाने वाले को वह मिठाई आनन्द देगी? नहीं। उस समय मिठाई जहर से भी बुरी मालूम होगी। अगर मिठाई में आनन्द है तो वह हर समय एक-सा आनन्द क्यों नहीं देती? इससे प्रकट है कि आनन्द मिठाई में नहीं है। वह कहीं दूसरी जगह है।

इसके अतिरिक्त एक आदमी के लिए जो मिठाई रुचिकर होती है वह दूसरे के लिए अरुचिकर होती है। जो वस्तु एक को आनन्द दे और दूसरे को दुःख पहुँचाए, उसे आनन्द की वस्तु कैसे कहा जा सकता है?

असली आनन्द आत्मा का गुण है। वह तुम्हारे पाप-कर्मों से ढँक गया है। तुम अपने पाप-कर्मों को हटा दो, फिर जान सकोगे कि असली आनन्द क्या है?

आजकल एक शक्कर निकलती है जिसे सेक्रीन कहते हैं। यह सेक्रीन साधारण शक्कर से ५०० गुनी मीठी होती है। सुना जाता है कि एक वैज्ञानिक अपना प्रयोग कर रहे थे। जब भोजन का समय हुआ तब भोजन करने गये। काम अधूरा ही पड़ा था उन्होंने रोटी हाथ मे ली और खाने लगे। उन्हें रोटी बहुत मीठी लगी। नौकर से पूछा—आज रोटी मीठी बनाई गई है? नौकर ने कहा—'नहीं, मालिक, हमेशा जैसी रोटी है।' वैज्ञानिक ने हाथ धो डाले और फिर रोटी खाने बैठे। रोटी फिर भी मीठी ही लगती रही। वह फिर उठे। हाथ धोये। फिर उँगलियाँ चार्टी तो उनमें मिठास मालूम हुआ। उन्होंने सोचा—प्रयोग के कारण ही हाथ मे मिठास आया जान पड़ता है। वह उठे और सीधे प्रयोगशाला में पहुँचे। प्रयोग की हुई वस्तु चखी तो वह बहुत मीठी मालूम हुई। उस समय वह साधारण शक्कर से ३०० गुनी मीठी थी बाद में ५०० गुनी मीठी की गई।

जिन पदार्थों में से सेक्रीन निकली वह और कुछ नहीं केवल डामर वगैरह थे। इस कूड़े—कचरे में से भी जब इस प्रकार का मिठास निकाल सकता है, तब जिस आत्मा में अनन्त और असीम मिठास है, उसकी शोध—साधना—क्यों नहीं करते?

मित्रो! आत्मा का विचार बड़ा लम्बा है। आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है। इसलिए स्थूल विचार में वह आता नहीं है। उसे अनुभव करने के लिए उत्कृष्ट साधना की आवश्यकता है। आत्मा के विषय में विस्तृत चर्चा फिर कभी की जायगी। आज सच्चिदानन्द का सामान्य स्वरूप समझ कर अगर मनन

करेंगे तो आपको अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा। रत्न को पहचान कर उसके लिए पैसा खर्चने में कोई आलस्य नहीं करता। अगर आप आत्मा को 'सच्चिदानन्द' मानते हो तो अपने तुच्छ सुख रूपी पैसों के बदले में 'सच्चिदानन्द' रूप को उपलब्ध करने में आलस्य मत करो।

भीनासर
१५—८—२७

सच्चे सुख का मार्ग

प्रार्थना

'अश्वसेन' नृप कुल तिलोरे, 'वर्मा' देवीनो नन्द।
चिन्तामणि चित में वसे रे, दूर टले दुख द्वन्द॥
जीव रे! तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द॥जीव०॥
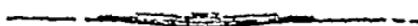
कर्त्ता कौन है? इस प्रश्न का उत्तर अनेक विचारकों ने भिन्न-भिन्न रूप से दिया है। व्याकरण शास्त्र का विधान है—'स्वतन्त्रः कर्त्ता' अर्थात् जो स्वतत्र है, जिसे दूसरा कोई प्रेरित नहीं करता वरन् जो स्वयं साधनों का प्रयोग करता है, वही कर्त्ता है। व्याकरण शास्त्र का यह समाधान सामान्य अतएव अधूरा है। कर्त्ता स्वतंत्र है, यह जान लेने पर भी तृप्ति नहीं होती। प्रश्न फिर भी बना रहता है कि ऐसा कौन है जो स्वतंत्र है?

कोई 'स्वभाव' को कर्त्ता मानता है। उसके मत से विश्व की रचना स्वभाव से हुई है। मगर विचार करने पर इस समाधान में भी पूर्णता प्रतीत नहीं होती। स्वभाव किसी स्वभाववान

का होता है। बिना गुणी के गुण का अस्तित्व नहीं हो सकता। स्वभाव अगर कर्त्ता है तो स्वभावी या स्वभाववान् कौन है ? इस प्रकार की जिज्ञासा फिर भी रह जाती है, जिसका समाधान स्वभाववाद से नहीं हो सकता।

स्वभाव को कर्त्ता मान लिया जाय और स्वभाववान् को न माना जाय, यह ऐसी मान्यता है जैसे दृश्य को स्वीकार करके भी द्रष्टा को स्वीकार न करना। मान लीजिए, एक आदमी दीपक लेकर अँधेरे मकान में जाए। वहाँ वह दीपक को देखे और दीपक द्वारा अन्य वस्तुओं को भी देखे। फिर भी वह कहे कि देखने वाला कोई भी नहीं है। ऐसा कहने वाले व्यक्ति को आप क्या कहेंगे ? क्या देखने वाले का अभाव बताने वाला व्यक्ति स्वयं ही देखने वाला नहीं है ? इस स्थिति में यही कहा जायगा कि देखने वाला अज्ञान के कारण स्वय अपने अस्तित्व का निषेध कर रहा है।

प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में तीन चीजों की आवश्यकता होती है। कर्त्ता, कर्म और करण। इन तीन के बिना कोई वस्तु नहीं बनती। उदाहरण के लिए घड़ा लीजिए। घड़ा बनाने वाला कुँभार कर्त्ता है, घड़ा कर्म है और मिट्टी, दंड, चक्र, सूत आदि जिन साधनों से घड़ा बनाया जाता है वे सब साधन करण हैं। इन तीन के बिना घड़ा नहीं बन सकता।

कर्तृत्व का प्रश्न बड़ा जटिल है। खास कर जब सृष्टि और उसके कर्त्ता का प्रश्न उपस्थित होता है तब इस प्रश्न की जटिलता और बढ़ जाती है। हमारे कई भाई समझते हैं कि सृष्टि का कर्त्ता कोई है ही नहीं। अगर सचमुच सृष्टि का कोई कर्त्ता नहीं है तो सृष्टि बनी कैसे ?

ईश्वर कर्त्ता है, यह मान्यता भी जगत् में प्रचलित है। मगर उसके संबंध में एक बार स्पष्टीकरण किया जा चुका है। अशरीर ईश्वर कुम्भार की तरह जगत् के निर्माण में लगा रहता है और वह पर्वत, नदियां, समुद्र, रेगिस्तान आदि बनाता है, यह कल्पना ही समझ में नहीं आती। तब कर्त्ता कौन है?

इस प्रश्न का अगर बारीकी से, निष्पक्ष होकर विचार किया जाय तो विदित होगा कि कर्त्ता आत्मा है। शास्त्र में लिखा है—

'अप्पा कत्ता विकत्ता य।'

अर्थात्—आत्मा ही कर्त्ता है और आत्मा ही हर्त्ता है।

आत्मा के बिना अकेले परमाणुओं की क्या ताकत है कि वे ऐसा रूप धारण कर सकें।

जो घड़ी आप कलाई पर बांधे हैं या जो दीवाल पर लटकी हुई है, वह क्या अपने आप ही बनने में समर्थ है? भले ही इसके बनाने वाले कारीगर को आपने बनाते नहीं देखा पर वह स्वयं अपने बनाने वाले का स्मरण करा रही है। इस प्रकार घड़ी को देख कर सभी लोग घड़ी बनाने वाले का अनुमान करते हैं, पर शरीर रूपी घड़ी को देखकर उसके बनाने वाले का अनुमान, या ध्यान करने वाले कितने हैं? शरीर रूपी यह घड़ी किस अद्भुत कारीगर के कौशल का चमत्कार प्रदर्शित कर रही है? इसके भीतर विविध प्रकार की विस्मयजनक जो शक्तियाँ विद्यमान हैं, उनका केन्द्र कौन है? आँख के द्वारा देखा जाता है, नाक से सूँघा जाता है, कान से शब्द सुनाई देता है, जिह्वा से रस का आस्वादन किया जाता है, इसी प्रकार अन्य अवयव अपना-अपना काम करते हैं, मगर इन सबको कार्य में प्रेरित करने वाला, आँख को देखने की शक्ति देने वाला, कान को सुनने

की शक्ति देने वाला कौन है ? किसकी शक्ति से यह सब करण परिचालित होते हैं ? इसका उत्तर है—आत्मा की शक्ति से। आत्मा ही इन सब इन्द्रियों का सचालन करता है। आत्मा की शक्ति से ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को जानती हैं। इसी का अर्थ है-'अप्पा कत्ता।'

आप दृश्य को देखते हैं और देखते देखते इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि आपको अपना आपा (आत्मा)—जो द्रष्टा है—दिखाई नहीं देता।

आप मेरे दर्शन करने आये हैं, मगर मुझे तो ऐसा लगता है जैसे आप मेरे हाथ, पैर और मस्तक को देखने आये हों। कई भाई कहते हैं—आपके दर्शन किये बिना चित्त शान्त नहीं होता। पर याद रखिए, मेरे दर्शन से तो क्या, साक्षात् अरिहन्त भगवान् के दर्शन से भी कुछ होना-जाना नहीं है। क्योंकि आप हमें देख करके भी द्रष्टा को भूल गये हैं। दृश्य को देख कर द्रष्टा को भूल जाना बड़ी भारी भूल है। क्या आप बतलाएँगे कि आपकी उंगली की हीरे की अंगूठी अधिक मूल्यवान् है या आप ? आप अधिक मूल्यवान हैं क्योंकि अंगूठी दृश्य है और आप द्रष्टा हैं। द्रष्टा न होगा तो दृश्य कैसे हो सकेगा ?

बहिनो ! तुम्हे जितनी चिन्ता अपने गहनो की है उतनी इन गहनों का आनन्द उठाने वाली आत्मा की है ? तुम्हे गहनों का जितना ध्यान रहता है, कम से कम उतना ध्यान अपनी आत्मा का रहता है ? आभूषणों को ठेस न लगने के लिए जितनी सावधान रखती हो उतनी आत्मधर्म को ठेस न लगने देने के लिए भी सावधान रखती हो ?

जगत् में जितने पदार्थ आँखों से दिखाई देते हैं, वे सब दृश्य हैं, नाशवान हैं और जो इन्हें देख रहा है वह द्रष्टा है, अविनाशी है। दृश्य खेल हैं और द्रष्टा खेलाने वाला है। जिसकी ऐसी श्रद्धा है वह 'आस्तिक' कहलाता है। जो द्रष्टा को अविनाशी रूप में नहीं मानता वह 'नास्तिक' है।

जिसने द्रष्टा को देख लिया है, पहचान लिया है वह दृश्य को सन्मान मिलने पर अपना सन्मान और अपमान मिलने पर अपना अपमान मानने के भ्रम में नहीं पड़ता। आज दृश्य के पीछे पड़ी हुई दुनिया उसके लिए अपनी सारी शक्ति खर्च रही है। फिर भी सुख की परछाई तक दिखाई नहीं देती।

जो मनुष्य घड़ी को देख कर उसके कारीगर को नहीं पहचानता वह मूर्ख गिना जाता है। इसी प्रकार जो शरीर को धारण करके इसमें विराजमान को नहीं पहचानता और न पहचानने का प्रयत्न करता है उसकी समस्त विद्या-अविद्या है। इसके सब काम खटपट रूप हैं।

अज्ञान पुरुष को जिन पदार्थों के वियोग से मर्मवेधी पीड़ा पहुँचती है, ज्ञानी जन को उनका वियोग साधारण-सी घटना प्रतीत होती है। ज्ञानवान पुरुष संयोग को वियोग का पूर्व रूप मानता है। अतएव वह संयोग के समय हर्ष-विभोर नहीं होता और वियोग के समय विषाद से मलीन नहीं होता। दोनों अवस्थाओं में वह मध्यस्थ भाव रखता है। सुख की कुंजी उसे हाथ लग गई है इसलिए दुःख उससे दूर ही दूर रहते हैं।

घड़ी के किसी पुर्जे के नष्ट हो जाने पर साधारण मनुष्य को दुःख का अनुभव होता है पर घड़ीसाज को कुछ भी दुःख नहीं

एक आदमी ने मिठाई खाई। वह कहता है—बड़ा आनन्द आया। पर शास्त्र कहता है—'आनन्द मिठाई खाने में नहीं है।' आप कह सकते हैं कि अगर मिठाई खाने में आनन्द नहीं है तो लोग खाते क्यों हैं? रोग आदि हानि की परवाह न करके, पैसे खर्च करके लोग मिठाई खाते हैं और आप कहते हैं—'आनन्द मिठाई खाने में नहीं है।' इसका संक्षेप में उत्तर यह है कि अगर मिठाई आनन्द रूप हो तो मुर्दे के मुँह में मिठाई डालिए, क्या उसे आनन्द आयगा? नहीं। इसीसे कहते हैं कि आनन्द मिठाई में नहीं, पर मिठाई से परे है।

अच्छा, मुर्दे को जाने दीजिए। कोई जीवित पुरुष भरपेट मिठाई खा चुके, तब उसके सामने पाँच-दस सेर मिठाई रख कर, लट्ठ तान कर सामने बैठ कर कोई उसे खाने के लिए बाध्य करे तो खाने वाले को वह मिठाई आनन्द देगी? नहीं। उस समय मिठाई जहर से भी बुरी मालूम होगी। अगर मिठाई में आनन्द है तो वह हर समय एक-सा आनन्द क्यों नहीं देती? इससे प्रकट है कि आनन्द मिठाई में नहीं है। वह कहीं दूसरी जगह है।

इसके अतिरिक्त एक आदमी के लिए जो मिठाई रुचिकर होती है वह दूसरे के लिए अरुचिकर होती है। जो वस्तु एक को आनन्द दे और दूसरे को दुःख पहुँचाए, उसे आनन्द की वस्तु कैसे कहा जा सकता है?

असली आनन्द आत्मा का गुण है। वह तुम्हारे पाप-कर्मों से ढँक गया है। तुम अपने पाप-कर्मों को हटा दो, फिर जान सकोगे कि असली आनन्द क्या है?

आजकल एक शक्कर निकलती है जिसे सेक्रीन कहते हैं। यह सेक्रीन साधारण शक्कर से ५०० गुनी मीठी होती है। सुना जाता है कि एक वैज्ञानिक अपना प्रयोग कर रहे थे। जब भोजन का समय हुआ तब भोजन करने गये। काम अधूरा ही पड़ा था। उन्होंने रोटी हाथ मे ली और खाने लगे। उन्हे रोटी बहुत मीठी लगी। नौकर से पूछा—आज रोटी मीठी बनाई गई है? नौकर ने कहा—'नहीं, मालिक, हमेशा जैसी रोटी है।' वैज्ञानिक ने हाथ धो डाले और फिर रोटी खाने बैठे। रोटी फिर भी मीठी ही लगती रही। वह फिर उठे। हाथ धोये। फिर उँगलियाँ चाटी तो उनमे मिठास मालूम हुआ। उन्होंने सोचा—प्रयोग के कारण ही हाथों में मिठास आया जान पड़ता है। वह उठे और सीधे प्रयोगशाला में पहुँचे। प्रयोग की हुई वस्तु चखी तो वह बहुत मीठी मालूम हुई। उस समय वह साधारण शक्कर से ३०० गुनी मीठी थी। बाद में ५०० गुनी मीठी की गई।

जिन पदार्थों में से सेक्रीन निकली वह और कुछ नहीं, केवल डामर वगैरह थे। इस कूड़े—कचरे में से भी जब इस प्रकार का मिठास निकाल सकता है, तब जिस आत्मा में अनन्त और असीम मिठास है, उसकी शोध—साधना—क्यो नहीं करते?

मित्रो! आत्मा का विचार बड़ा लम्बा है। आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है। इसलिए स्थूल विचार मे वह आता नहीं है। उसे अनुभव करने के लिए उत्कृष्ट साधना की आवश्यकता है। आत्मा के विषय मे विस्तृत चर्चा फिर कभी की जायगी। आज सच्चिदानन्द का सामान्य स्वरूप समझ कर अगर मनन

करेंगे तो आपको अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा। रत्न को पहचान कर उसके लिए पैसा खर्चने में कोई आलस्य नहीं करता। अगर आप आत्मा को 'सच्चिदानन्द' मानते हो तो अपने तुच्छ सुख रूपी पैसों के बदले में 'सच्चिदानन्द' रूप को उपलब्ध करने में आलस्य मत करो।

भीनासर
१५—८—२७

सच्चे सुख का मार्ग

प्रार्थना

'अश्वसेन' नृप कुल तिलोरे, 'वमा' देवीनो नन्द।
चिन्तामणि चित में वसे रे, दूर टले दुख द्वन्द ।।
जीव रे ! तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द ।।जीव०।।

कर्त्ता कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक विचारकों भिन्न-भिन्न रूप से दिया है। व्याकरण शास्त्र का विधान है- 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' अर्थात् जो स्वतंत्र है, जिसे दूसरा कोई प्रेरि नहीं करता वरन् जो स्वयं साधनों का प्रयोग करता है, वही कर्त्ता है। व्याकरण शास्त्र का यह समाधान सामान्य अतएव अधूरा है। कर्त्ता स्वतंत्र है, यह जान लेने पर भी तृप्ति नहीं होती। प्रश्न फिर भी बना रहता है कि ऐसा कौन है जो स्वतंत्र है ?

कोई 'स्वभाव' को कर्त्ता मानता है। उसके मत से विश्व की रचना स्वभाव से हुई है। मगर विचार करने पर इस समाधान में भी पूर्णता प्रतीत नहीं होती। स्वभाव किसी स्वभाववान

का होता है। विना गुणी के गुण का अस्तित्व नहीं हो सकता।
स्वभाव अगर कर्त्ता है तो स्वभावी या स्वभाववान् कौन है ? इस
प्रकार की जिज्ञासा फिर भी रह जाती है, जिसका समाधान
स्वभाववाद से नहीं हो सकता।

स्वभाव को कर्त्ता मान लिया जाय और स्वभाववान् को न
माना जाय, यह ऐसी मान्यता है जैसे दृश्य को स्वीकार करके
भी द्रष्टा को स्वीकार न करना। मान लीजिए, एक आदमी दीपक
लेकर अँधेरे मकान में जाए। वहाँ वह दीपक को देखे और दीपक
द्वारा अन्य वस्तुओं को भी देखे। फिर भी वह कहे कि देखने
वाला कोई भी नहीं है। ऐसा कहने वाले व्यक्ति को आप क्या
कहेंगे ? क्या देखने वाले का अभाव बताने वाला व्यक्ति स्वयं ही
देखने वाला नहीं है ? इस स्थिति में यही कहा जायगा कि देखने
वाला अज्ञान के कारण स्वयं अपने अस्तित्व का निषेध कर रहा है।

प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में तीन चीजों की आवश्यकता
होती है। कर्त्ता, कर्म और करण। इन तीन के विना कोई वस्तु
नहीं बनती। उदाहरण के लिए घड़ा लीजिए। घड़ा बनाने वाला
कुँभार कर्त्ता है, घड़ा कर्म है और मिट्टी, दंड, चक्र, सूत आदि
जिन साधनों से घड़ा बनाया जाता है वे सब साधन करण हैं।
इन तीन के विना घड़ा नहीं बन सकता।

कर्तृत्व का प्रश्न बड़ा जटिल है। खास कर जब सृष्टि
और उसके कर्त्ता का प्रश्न उपस्थित होता है तब इस प्रश्न की
जटिलता और बढ़ जाती है। हमारे कई भाई समझते हैं कि
सृष्टि का कर्त्ता कोई है ही नहीं। अगर सचमुच सृष्टि का कोई
कर्त्ता नहीं है तो सृष्टि बनी कैसे ?

ईश्वर कर्त्ता है, यह मान्यता भी जगत् में प्रचलित है। मगर उसके संबंध में एक बार स्पष्टीकरण किया जा चुका है। अशरीर ईश्वर कुम्भार की तरह जगत् के निर्माण में लगा रहता है और वह पर्वत, नदियां, समुद्र, रेगिस्तान आदि बनाता है, यह कल्पना ही समझ में नहीं आती। तब कर्त्ता कौन है ?

इस प्रश्न का अगर बारीकी से, निष्पक्ष होकर विचार किया जाय तो विदित होगा कि कर्त्ता आत्मा है। शास्त्र में लिखा है—

'अप्पा कत्ता विकत्ता य।'

अर्थात्—आत्मा ही कर्त्ता है और आत्मा ही हर्त्ता है।

आत्मा के बिना अकेले परमाणुओं की क्या ताकत है कि वे ऐसा रूप धारण कर सकें।

जो घड़ी आप कलाई पर बांधे हैं या जो दीवाल पर लटकी हुई है, वह क्या अपने आप ही बनने में समर्थ है ? भले ही इसके बनाने वाले कारीगर को आपने बनाते नहीं देखा पर वह स्वयं अपने बनाने वाले का स्मरण करा रही है। इस प्रकार घड़ी को देख कर सभी लोग घड़ी बनाने वाले का अनुमान करते हैं, पर शरीर रूपी घड़ी को देखकर उसके बनाने वाले का अनुमान, या ध्यान करने वाले कितने हैं ? शरीर रूपी यह घड़ी किस अद्भुत कारीगर के कौशल का चमत्कार प्रदर्शित कर रही है ? इसके भीतर विविध प्रकार की विस्मयजनक जो शक्तियाँ विद्यमान हैं, उनका केन्द्र कौन है ? आँख के द्वारा देखा जाता है, नाक से सूँघा जाता है, कान से शब्द सुनाई देता है, जिह्वा से रस का आस्वादन किया जाता है, इसी प्रकार अन्य अवयव ।-अपना काम करते हैं, मगर इन सबको कार्य में प्रेरित वाला, आँख को देखने की शक्ति देने वाला, कान को सुनने

की शक्ति देने वाला कौन है ? किसकी शक्ति से यह सब करण परिचालित होते हैं ? इसका उत्तर है—आत्मा की शक्ति से। आत्मा ही इन सब इन्द्रियों का सचालन करता है। आत्मा की शक्ति से ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को जानती हैं। इसी का अर्थ है-'अप्पा कत्ता।'

आप दृश्य को देखते है और देखते देखते इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि आपको अपना-आपा (आत्मा)—जो द्रष्टा है—दिखाई नहीं देता।

आप मेरे दर्शन करने आये हैं, मगर मुझे तो ऐसा लगता है जैसे आप मेरे हाथ, पैर और मस्तक को देखने आये हों। कई भाई कहते हैं—आपके दर्शन किये बिना चित्त शान्त नहीं होता। पर याद रखिए, मेरे दर्शन से तो क्या, साक्षात् अरिहन्त भगवान् के दर्शन से भी कुछ होना-जाना नहीं है। क्योंकि आप हमें देख करके भी द्रष्टा को भूल गये हैं। दृश्य को देख कर द्रष्टा को भूल जाना बड़ी भारी भूल है। क्या आप बतलाएँगे कि आपकी उंगली की हीरे की अंगूठी अधिक मूल्यवान् है या आप ? आप अधिक मूल्यवान हैं क्योंकि अंगूठी दृश्य है और आप द्रष्टा हैं। द्रष्टा न होगा तो दृश्य कैसे हो सकेगा ?

बहिनो ! तुम्हें जितनी चिन्ता अपने गहनों की है उतनी इन गहनों का आनन्द उठाने वाली आत्मा की है ? तुम्हें गहनों का जितना ध्यान रहता है, कम से कम उतना ध्यान अपनी आत्मा का रहता है ? आभूषणों को ठेस न लगने के लिए जितनी सावधान रखती हो उतनी आत्मधर्म को ठेस न लगने देने के लिए भी सावधान रखती हो ?

जगत् में जितने पदार्थ आँखों से दिखाई देते हैं वे सब दृश्य हैं, नाशवान हैं और जो इन्हें देख रहा है वह दृष्टा है, अविनाशी है। दृश्य खेल हैं और दृष्टा खेलाने वाला है। जिसकी ऐसी श्रद्धा है वह 'आस्तिक' कहलाता है। जो दृष्टा को अविनाशी रूप में नहीं मानता वह 'नास्तिक' है।

जिसने दृष्टा को देख लिया है, पहचान लिया है वह दृश्य को सन्मान मिलने पर अपना सन्मान और अपमान मिलने पर अपना अपमान मानने के भ्रम में नहीं पड़ता। आज दृश्य के पीछे पड़ी हुई दुनिया उसके लिए अपनी सारी शक्ति खर्च रही है। फिर भी सुख की परछाई तक दिखाई नहीं देती।

जो मनुष्य घड़ी को देख कर उसके कारीगर को नहीं पहचानता वह मूर्ख गिना जाता है। इसी प्रकार जो शरीर को धारण करके इसमें विराजमान को नहीं पहचानता और न पहचानने का प्रयत्न करता है उसकी समस्त विद्या-अविद्या है। इसके सब काम खटपट रूप हैं।

अज्ञान पुरुष को जिन पदार्थों के वियोग से मर्मवेधी पीड़ा पहुँचती है, ज्ञानी जन को उनका वियोग साधारण-सी घटना प्रतीत होती है। ज्ञानवान पुरुष संयोग को वियोग का पूर्व रूप मानता है। अतएव वह संयोग के समय हर्ष-विभोर नहीं होता और वियोग के समय विषाद से मलीन नहीं होता। दोनों अवस्थाओं में वह मध्यस्थ भाव रखता है। सुख की कुंजी उसे हाथ लग गई है इसलिए दुःख उससे दूर ही दूर रहते हैं।

घड़ी के किसी पुर्जे के नष्ट हो जाने पर साधारण मनुष्य को दुःख का अनुभव होता है पर घड़ीसाज को कुछ भी दुःख नहीं

होता। वह जानता है, पुर्जा टूट गया—नष्ट हो गया तो क्या हुआ। फिर बना लूँगा। कभी-कभी घड़ीसाज अपनी इच्छा से घडी का पुर्जा-पुर्जा अलग कर देता है और फिर उन्हें नये सिरे से जोड़ कर, नवीन ज्ञान प्राप्त करके आनन्द का अनुभव करता है।

शरीर क्षेत्र है, आत्मा क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अतर गीता में भी प्रतिपादन किया गया है। उसे इस समय विस्तार-पूर्वक समझाना कठिन है।

मित्रो! आपको भोजन न मिलने से अधिक दुःख होता है या अपमान मिलने से?

'अपमान से?'

क्यो? इसलिए कि भोजन थोड़े परिश्रम से मिल सकता है परन्तु प्रतिष्ठा—मान—के लिए बहुत-सी झंझटें उठानी पड़ती हैं। प्रतिष्ठा के लिए दुनिया न मालूम कितने यत्न करती है। भारी खर्च किये जाते हैं, लोकदिखावा किया जाता है, आकाश-पाताल एक किया जाता है। किन्तु अन्त मे परिणाम क्या आता है? असली सुख के बदले महान् और घोर दुःख भुगतने पड़ते हैं। आज नब्बे प्रतिशत दुःख अज्ञान के कारण और दस प्रतिशत व्यावहारिक कामों से हो रहा है।

मैं अभी मोहर लुटाने लगूँ, भोजन का निमत्रण दूं और अच्छे-अच्छे वस्त्र वितीर्ण करूँ तो कितने मनुष्य इकट्ठे होंगे?

'बहुत से।'

अगर तत्त्वज्ञान सुनाऊँ तो?

'बहुत थोड़े !'

ऐसा क्यो ? इसीलिए कि लोग अभी उन्हीं पदार्थों मे सुख मान रहे हैं। तत्त्वज्ञान सुनना तो उन्हे झंझट मालूम होता है। पर यह स्मरण रक्खो कि सुख धन मे नही है। गौर से देखो तो पता चलेगा कि धनी लोग अधिक दुखी हैं। अनेक धनिको की आँखें गहरी घुसी हुई, गाल पिचके हुए और चेहरे पर विषाद एवं उदासीनता नजर आएगी। पर मस्त गरीब की स्थिति इससे उल्टी होगी। १०-५ धनवान् महाजन कडे-कठी पहन कर जंगल में जावें और सामने, कंधे पर लाठी लिये एक जाट को देखे तो ?

'सब भाग खडे होगे !'

बस, आखिर कड़े-कंठी को लजाया न ! इसीलिए कहना पडता है कि असली सुख चांदी-सोने मे नहीं है।

एक मनुष्य एक पैर से लकड़ी के सहारे चलता हो और दूसरा स्वतंत्रता के साथ बिना सहारे चलता हो तो आपकी निगाह में कौन अच्छा जँचेगा ?

बिना सहारे चलने वाला !'

ठीक है, क्योंकि स्वतत्रता मे जितना सुख है, परतंत्रता मे नहीं है। लोग बग्घियो और मोटरों पर चढ़कर अपने सुख और ऐश्वर्य का प्रदर्शन करते है, पर वास्तव मे वह सुख, सुख नहीं है। गाड़ियाँ परतंत्रता मे डालने वाली बेड़ियाँ हैं।

जिन ढोंगों के कारण मानव-शक्ति का ह्रास होता है, जिनकी बदौलत क्लेशो की वृद्धि होती है, उनके पजे से मनुष्यो को छुड़ाना साधु का परम कर्त्तव्य है।

ससार में तीन प्रकार के दु.ख हैं—(१) आधिभौतिक (२) आधिदैविक और (३) आध्यात्मिक । भूख लगने पर रोटी की इच्छा होना, प्यास लगने पर जल की वांछा करना और सर्दी-गर्मी से बचने के लिए कपड़े-लत्ते की आकांक्षा होना आधिभौतिक दुःख कहलाता है। आधिभौतिक दुःख को दूर करने के लिए शरीर के भीतर जो हलचल होती है, शोक करना पड़ता है, चिन्ता करनी पड़ती है, वह अध्यात्मिक दुःख कहा गया है।

दुख का मूल कारण तृष्णा है। चिउंटी से लगा कर चक्रवर्ती पर्यन्त सभी जीव तृष्णा के पीछे-पीछे दौड़ लगा रहे हैं। खेद की बात यह है कि उस दौड़ का कहीं अन्त नहीं है, कहीं विराम नहीं है। तृष्णा की मंजिल कभी तय नहीं हो पाती। उसका तय होना सभव भी नहीं है, क्योंकि लक्ष्य स्थिर नहीं है। पहले निश्चित किये हुए लक्ष्य पर पहुँचने को हुए कि लक्ष्य बदल कर और आगे बढ़ जाता है। इस प्रकार संसार में दौड़-धूप मची रहती है। मनुष्य पहले विवाह करके सुख की आकांक्षा करता है— विवाह कर लेना उसका लक्ष्य होता है। परन्तु विवाह होते ही सन्तान की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। कदाचित् सन्तान हो गई तब भी तृष्णा का अन्त कहां? वह और आगे बढ़ती है—सन्तान के विवाह की इच्छा पैदा करती है। इसके बाद मनुष्य को पौत्र चाहिये, प्रपौत्र चाहिये, और न जाने क्या-क्या चाहिए। इस 'चाहिए' के चगुल में फँस कर मनुष्य बेतहाशा भाग-दौड लगा रहा है। कभी किसी क्षण शान्ति नहीं, सतोष नहीं और निराकुलता नहीं। भला इस दौड-धूप में सुख कैसे मिल सकता है? यही ससार की व्याकुलता का कारण है। इसी तृष्णा से दुःख शोक और संताप की उत्पत्ति होती है।

ज्ञानी जन तृष्णा के पीछे नहीं दौड़ते। उन्होंने समझ लिया है कि अगर कोई अपनी परछाई पकड़ सकता है तो तृष्णा की पूर्ति कर सकता है। मगर अपनी परछाई के पीछे कोई कितना ही दौड़े, वह आगे आगे दौड़ती रहेगी, पकड़ मे नहीं आ सकेगी। इसी प्रकार तृष्णा की पूर्ति के लिए कोई कितना ही उपाय करे मगर वह पूरी नहीं होगी। ज्यों-ज्यो परछाई के पीछे दौड़ने का प्रयत्न किया जाता है त्यों-त्यों वह आगे बढ़ती जाती है। मगर मनुष्य जब उससे विमुख हो जाता है, तब वह लौट कर उसका पीछा करने लगती है। इस प्रकार परछाई के पीछे दौड कर अपनी शक्ति का नाश करना व्यर्थ है और तृष्णा की पूर्ति करने के लिए मुसीबत उठाना भी वृथा है।

ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि मुझे जो कुछ प्राप्त है वह भी मेरा नहीं तो दूसरी वस्तु की आकांक्षा क्यों करूँ? ज्ञानवान् पुरुष अज्ञानियों की तरह चिन्ता मे घुल-घुल नहीं मरते। ज्ञानी जानते हैं कि मेरा विवाह हुआ है पर मेरी स्त्री मुझसे भिन्न रही है, मैं इस के नष्ट होने पर चिन्ता नहीं करता और प्राप्त होने पर खुशी भी नहीं मनाता। ज्ञानी अपने शरीर पर शासन कर सकता है।

यहाँ बैठे हुए कई भाइयों के बाल सफेद हो गये हैं। वे उन्हें काले नहीं कर सकते। काला करना उनके हाथ की बात नहीं है। यह वृद्ध शरीर के गुलाम बने हुए हैं। यह अपनी परतंत्रता प्रकट करते हैं, परन्तु जो अपने शरीर को वश में कर लेता है, वह शरीर से मनचाहा काम करा सकता है। अमेरिका की एक ८० वर्ष की वृद्धा बहिन के सिर पर एक भी बाल सफेद नहीं है, चेहरे पर झुर्रियों का नाम नहीं। इसका क्या कारण है? इसका कारण है—आत्म-सत्ता। जो ज्ञानी है वह भौतिक साधनों पर आज्ञा चला सकता

है। सब काम उसकी आज्ञा के अनुसार ही होंगे। वह चाहे तब तक शरीर को टिका सकता है और चाहे तब शरीर छोड़ सकता है। तात्पर्य यह है कि अकाल-मृत्यु उसके समीप भी नहीं फटक सकती।

एक वृक्ष की डाल पर एक पक्षी बैठा है। उसी वृक्ष की दूसरी डाल पर बन्दर बैठा है। अगर वृक्ष की वह डालें या समूचा वृक्ष उखड़ कर गिरने लगे तो दोनों में से किसे अधिक दुःख होगा?

'बन्दर को।'

क्योंकि पक्षी उड़ सकता है। उसे अपने पंखों का बल है। वह समझता है, मैं इस पेड़ पर आनन्द लेने के लिए बैठा हूँ। वह गिरे तो क्या और न गिरे तो क्या? पक्षी को उसके रहने या गिरने की चिन्ता नहीं होती।

मित्रो! आप संसार के पक्षी बनना चाहते हैं या बन्दर बनना चाहते हैं? अगर आप पक्षी बनना चाहें तो पंख मैं लगा देना चाहता हूँ। आप पंख लगा कर संसार-वृक्ष पर आनन्द लेने बैठेंगे और इसका नाश हो जायगा तो भी आपको कुछ कष्ट न होगा, क्योंकि आप स्वतंत्र बन जाएँगे। जो पंख न लगवा कर बन्दर बन कर बैठेगा उसे ससार रूपी वृक्ष के नाश होने पर घोर दुःख भोगना पड़ेगा।

जो अपने आपको द्रष्टा और संसार को नाटक रूप देखता है, सारी शक्तियाँ उसके चरणों की सेवा करने के लिए तैयार रहती है।

तीसरे प्रकार का दुःख आधिदैविक है। आंधी आना, अति वर्षा होना, अनावृष्टि होना अर्थात् बिल्कुल पानी नहीं बर-

चेले को अपने गुरु की इज्जत घटानी चाहिए ? जिस संघ मे आप रहते हैं उसे छिन्न-भिन्न कर डालना योग्य कहलाएगा ? नहीं। आपको याद है, राजगृही नगरी मे व्यापारी कम्बल वेचने आये। राजा श्रेणिक ने कम्बल न खरीदे पर भद्रा सेठानी ने सोलह खरीद लिये। यह कम्बल साधारण नहीं थे। एक-एक कम्बल की कीमत सवा लाख रुपया थी। भद्रा को उन कम्बलों की आवश्यकता नहीं थी। फिर भी उसने राजगृही—अपने नगर की प्रतिष्ठा रखने के लिए खरीदे। वह न खरीदती तो व्यापारी सोचते—वाह ! राजगृही भी कैसी नगरी है, जहाँ एक कम्बल का खरीददार भी न निकला। सेठानी ने कम्बल खरीद कर कहा—सोलह ही लाये हो ? बत्तीस ले आये होते तो अच्छा था।

सेठानी भद्रा ने अपने नगर का मान रखने के लिए यह कहा। जिसमें वह रहती है उसकी वेइज्जती करना वह नहीं चाहती।

मित्रो ! यहीं से धर्मलेश्या आरम्भ होती है। क्या आप ध्यान-पूर्वक सुन कर इन बातों को स्मरण रखेंगे ?

चौथा पुरुष फिर बोला— भाई, मेरी सम्मति तो यह है कि टहनियाँ या पत्ते न तोड़ कर फल ही फल तोड लेने चाहिए। इसमें वृक्ष की शोभा भी न बिगडेगी और अपना काम निकल जाएगा।

पाँचवें मित्र ने कहा—तुम्हारा कहना इन सब में अच्छा है, पर मुझे तो इसमें भी कुछ भूल मालूम होती है। कच्चे फल तोड़ने से कोई फायदा नहीं है। जब पक जाएँगे तो दूसरों के काम आएँगे। अगर हम लोग इन्हें तोड़ कर फेंक देंगे तो दूसरों की दया न होगी। अतएव मेरी राय यह है कि, कच्चे फल दूसरों

।ए छोड़ दिए जाएँ और पके फल तोड़ कर खा लिए जाएँ। अपना भी प्रयोजन सिद्ध हो जायगा और दूसरे बटोहियों भी कष्ट न होगा।

छठे ने कहा—आप लोगों की सम्मति क्रमश. अच्छी है मैं कुछ और ही कहना चाहता हूँ। आप मेरा कहना मानेंगे विशेष लाभ होगा। वृक्ष पके हुए मीठे फलों को आप नीचे ा देता है। ऐसी स्थिति में वृक्ष का दान अंगीकार न करके र पर डाका डालना क्या उचित है? हाँ, यदि वृक्ष पके फल राता न होता तो बात दूसरी थी। देखो, एक आम वह गिरा। ोर हवा के झोंके से यह भी गिर पड़े हैं। यह लो, देखो, तड़ा-ड़ गिरने लगे हैं। मित्रो! इन्हें खाओ और अपनी भूख बुझाओ। सरे सब विचार त्याग दो।

भाइयो, इस दृष्टान्त को आप हँस कर मत टाल देना। इसके नर्म को समझने का प्रयत्न करो। इस दृष्टान्त से यह शिक्षा मिलती है कि जो चीज अनायास मिल रही है, उसके उत्पत्ति-स्थान की जड़ नहीं काटना चाहिए।

तुम्हारे खाने में गरीब भाइयों का नाश होता है। तुम्हारे दो दिन के मौज-शौक में इन बेचारों का कचरघान उड़ जाता है। उनके बाल-बच्चों के भूखो मरने की नौबत आजाती है। मित्रो! ऐसे काम करना उचित नहीं। इसमें तुम्हारी प्रतिष्ठा नहीं है, अप्रतिष्ठा है। मृत्युभोज आदि की बुरी रीतियों को हटा दीजिए। ब्याह शादियों पर किये जाने वाले वृथा व्यय पर विचार कीजिए। इससे आपके देश की, आपकी जाति की और आपके धर्म की लज्जा रहेगी।

श्रावक को तृष्णा नहीं बढ़ानी चाहिए। उसे अल्पारम्भ और अल्पपरिग्रही रहना चाहिए। उसे अपने कामों मे ऐसी लेश्या पैदा करनी चाहिए जिससे चित्त मे आनन्द रहे। व्यर्थ व्यय का बन्द करके आप दीन-दुखियो की मदद कर सकते हैं, भूखो मरते गरीबो को जीवन-दान दे सकते हैं। देश और धर्म के उत्कर्ष में योग दे सकते है।

मित्रो! दूसरे की सहायता में खर्च करना, दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानना और दूसरो के सुख को अपना सुख समझना, मनुष्य का आवश्यक कर्त्तव्य है। ईश्वर से प्रार्थना करो कि आपकी प्रकृति ऐसी बन जाय। आपके हृदय मे ऐसी सहृदयता और सहानुभूति उत्पन्न हो जाय।

ऐसी मति हो जाय, दयामय! ऐसी मति हो जाय।
औरों के दुख को दुख समझूं, सुख का करूँ उपाय।
अपने दुःख सहूं सहर्ष पर-दुःख न देखा जाय ॥दयामय॥

एक व्यक्ति जब तक अपने ही सुख को सुख मानता रहेगा, जब तक उसमें दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानने की संवेदना जागृत न होगी, तब तक उसके जीवन का विकास नहीं हो सकता। उसके जीवन का धरातल ऊँचा नहीं उठ सकता। अवतारो और तीर्थङ्करों ने दूसरो के सुख को ही अपना सुख माना था। इसी कारण वे अपना चरम विकास करने में समर्थ हुए। जिस गरीब मनुष्य की भावना में ऐसी विशालता आ जाती है वह राजा को भी डिगा सकता है। पर जो अपने ही सुख को सुख मानता है, वह चाहे राजा ही क्यो न हो, शैतान या दुनिया का सत्यानाश करने वाला ही कहा जायगा।

किसी समय में एक राजा राज्य करता था। उसके पास वहुत से विद्वान् आते रहते थे। वे लोग राजा मे जो दुर्गुण देखते दूर करने का उपदेश राजा को दिया करते थे। पर राजा किसी की कुछ मानता नहीं था। वह विद्वान् पण्डितों को अपने सुख में विघ्न डालने वाला समझता था। अगर कोई विद्वान् अधिक जोर देकर उपदेश देता तो राजा उसका अपमान करने से भी नहीं चूकता था। इस प्रकार किसी की बात पर कान न देने के कारण राजा के दुर्व्यसन बढ़ते गये।

एक रोज राजा अपने साथियों के साथ, घोड़े पर सवार होकर शिकार खेलने के लिए जगल मे गया। वहाँ अपना शिकार हाथ से जाते देख उसने शिकार का पीछा किया। राजा वहुत दूर जा पहुँचा। साथी बिछुड़ गये। पर शिकार हाथ नहीं आया।

मनुष्य भले ही अपना कुव्यसन न छोडे, मगर प्रकृति उसे चेतावनी जरूर देती रहती है। यही बात यहाँ हुई। बहुत दूर चले जाने पर राजा रास्ता भूल गया। वह बुरी तरह थक गया। विश्राम के लिए किसी पेड के नीचे ठहरा। इतने में जबर्दस्त आँधी उठी और पानी की वर्षा होने लगी। थोडी ही देर में बिजली चमकने लगी। मेघ घोर गर्जना करके मूसलधार पानी बरसाने लगे और ओलों की बौछार होने लगी। राजा बड़ी विपदा मे फँस गया। उसने इसी जगल में न जाने कितने निरपराध पशुओं को अपनी गोली का निशाना बनाया था। आज वह स्वयं प्रकृति की गोलियों—ओलों—का निशान बना हुआ था। राजा ओलों से बचने के लिए वृक्ष के तने से घुसा जाता था पर वृक्ष ओलों से उसकी रक्षा न कर सका। घोडा थका हुआ था ही। ओलों की मार से वह और हाँफ गया और अन्त में उसने भी राजा का

साथ छोड़ दिया। अब राजा को एक भी सहायक नजर नहीं आता था। उसके महलों में सैकड़ों दास और दासियों का जमघट था, मगर आज इस मुसीबत के समय कोई खोज-खबर लेने वाला भी नसीब नहीं था।

विपत्ति हमेशा नहीं रहती। कभी न कभी टल जाती है। इस नियम के अनुसार पानी का बरसना, मेघों का गरजना और हवा का चलना बन्द हो गया। धीरे-धीरे बादल भी फटने लगे। अब राजा के जी में जी आया। उसने चारो तरफ दृष्टि दौड़ाई तो जल ही जल दिखाई दिया। पर दूर की तरफ नजर दौड़ाने पर अग्नि का कुछ प्रकाश दिखाई दिया।

प्रकाश देखकर राजा के हृदय में तसल्ली बँधी। उसने सोचा वहाँ कोई मनुष्य अवश्य होगा। वहाँ चलना चाहिए। रास्ते में गिरता-पड़ता फिसलता हुआ धीरे-धीरे वह अग्नि के प्रकाश की तरफ बढ़ा। वह ज्यों-ज्यो आगे बढ़ता जाता था, एक झौंपड़ी उसे साफ मालूम होती जाती थी। आखिर राजा झौंपड़ी के द्वार पर जा पहुँचा।

राजा शिकारी के वेष में झौंपड़ी के द्वार पर खड़ा हुआ। झौंपड़ी में एक किसान रहता था। राजा को देखते ही उसने कहा 'आओ भाई, अन्दर आओ।'

अहा! ऐसी घोर विपदा के समय यह स्नेह-पूर्ण 'भाई' संबोधन सुनकर राजा को कितना हर्ष हुआ होगा!

किसान राजा को शिकारी ही समझे था। उसके कपड़े पानी से तर देखकर किसान ने कहा—ओह! तू तो पानी से लथ-पथ हो गया है! आज तुझे बड़ी तकलीफ उठानी पड़ी होगी!

किसान के सहानुभूति से भरे मीठे शब्द सुन कर राजा गद्गद् हो गया। भाटों और चारणों के द्वारा बखान की गई अपनी विरुदावली सुनने में और अपने मुसाहिबों के मुजरे में जो आनन्द उसे अनुभव नहीं हुआ होगा, वह अपूर्व आनन्द किसान के इन थोडे-से शब्दों ने उसे प्रदान किया।

किसान ने अपनी स्त्री से कहा— देख, इस शिकारी के सब कपड़े गीले हो रहे हैं। इसे ठण्ड लग रही है। अपना कम्बल उठा ला। इसे कम्बल देकर इसके कपड़े निचोड़ कर सूखने डाल दे।

किसान की स्त्री कम्बल ले आई। राजा ने बहुत-से कीमती दुशाले ओढ़े होंगे, पर इस कम्बल को ओढ़ने में उसे जो आनन्द आया वह शायद दुशालों से नसीब न हुआ होगा।

आज राजा को यह छोटी-सी झोंपड़ी अपने विशाल राज-महलों की अपेक्षा अधिक आनन्ददायिनी प्रतीत हुई। किसान दम्पती की सेवा उसे ईश्वरीय वरदान-सी प्रतीत हुई। राजा जिन महलों को अपना मान कर गर्व से इतराता था, जिस वैभव पर फूला नहीं समाता था, आज वह सब उसे तुच्छ प्रतीत हो रहा था।

राजा ने जब कम्बल पहन लिया, तब किसान ने घास के बिछौने की ओर इशारा करके कहा—तू बहुत थका मालूम देता है। उसे बिछा कर उस बिछौने पर विश्राम कर ले।

राजा सो गया। थकावट के मारे उसे गहरी नींद आ गई।

किसान ने स्त्री से कहा— बेचारे की ठण्ड अभी नहीं गई होगी, जरा आग से तपा दे। स्त्री फूटे-टूटे कम्बल के चीथड़ों का

रोटा बना कर राजा को तपाने लगी। किसान की स्त्री अपने पुत्र के समान विशुद्ध-भाव से राजा की सेवा कर रही थी। सरल-हृदय किसान-पत्नी के हृदय में वही वात्सल्य था जो अपने बेटे के लिए होता है।

और किसान राजा के कपड़े हिला-हिला कर अग्नि के ताप से सुखाने में लगा हुआ था।

जब राजा अँगड़ाई लेता हुआ उठ खड़ा हुआ तब किसान ने कहा—अरे अब तो तू अच्छा दिखाई देता है। अब तेरा चेहरा भी पहले से अच्छा मालूम होता है। पर यह तो बता, तू घर से कब निकला था ?

राजा—सुबह

किसान—तब तो तुझे भूख लगी होगी। अच्छा (स्त्री की तरफ देखकर) अरी जा, इसके लिए रोटी और ढूङ्गरी पालक की तरकारी ले आ।

राजा मोटी रोटी जंगली तरकारी के साथ खाने बैठा। उसने अपने सुसराल में, बड़ी मनवार के साथ अच्छे-अच्छे पकवान खाये होंगे। पर कहाँ वह पकवान और कहाँ आज की यह मोटी रोटी! उन पकवानों में जड़ का माधुर्य था, पर इस मोटी रोटी में किसान दम्पती के हृदय की मधुरता! उन पकवानों को भोगने वाला था राजा और इस रोटी को खाने वाला था साधारण मानवी! राजा इस भोजन में जो निस्वार्थ-भाव भरा हुआ पाता था, वह उन पकवानों में कहाँ!

रात बहुत हो गई थी। किसान-दम्पती और उसके बाल-बच्चे सो गये। राजा भी उसी झोंपड़ी में फिर सो गया। मगर राजा

को नींद नहीं आ रही थी। मन ही मन वह किसान की सेवा पर लट्टू हो रहा था। पंडितों के उपदेश ने उसके हृदय पर जो प्रभाव नहीं डाला था, किसान की सेवा ने वह प्रभाव उसके हृदय पर डाला। एक ही रात मे उसका सारा जीवन पलट गया। अब तक वह निरा राजा था, आज किसान ने उसे आदमी भी बना दिया।

प्रातःकाल राजा ने अपने कपडे पहने और किसान से जाने की आज्ञा माँगी। किसान को क्या पता था कि जिसके नाम-मात्र से बडो-बडो का कलेजा काँप उठता है, वह महाराजाधिराज यही हैं। उसकी निगाह में वह साधारण मनुष्य था। किसान ने यही समझते हुए कहा—'अच्छा भाई, जा। यह झौंपड़ी तेरी ही है। फिर कभी आना।'

इस आत्मीयता ने राजा के दिल में हलचल मचा दी। वह किसान के पैरों में गिर पडा। किसान को अपना गुरु मान वह वहाँ से चल दिया।

राजा अपने महल मे पहुँचा। राजा के पहुँचते ही मुसाहबो ने मुजरा किया। रानियो ने आदर-सत्कार कर कुशल-क्षेम पूछी। पर राजा को यह सब शिष्टाचार फीका मालूम हुआ। राजा के दिल मे किसान की सेवा-परायणता किसान-पत्नी की सरलता और उन दोनों की सादगी एवं वत्सलता ने घर कर लिया था। वह उसे भूल नहीं सका। बार-बार वही याद करके वह प्रफुल्लित हो जाता था।

विद्वानों ने उसे बहुतेरे उपदेश दिये थे, पर उनका कुछ भी असर नहीं हुआ था। किसान की सरल और निस्वार्थ सेवा ने

तात्पर्य यह है कि गधे पर हाथी का बोझ लादना मूर्खता है।

न हि वारणपर्याणं वोढुं शक्तो वनायुजः।

अर्थात् हाथी का पलान गधा नहीं सहार सकता।

जैसे हाथी का बोझ गधे पर लादना मूर्खता है, उसी प्रकार गधे का काम हाथी से लेना भी बेवकूफी है। जो काम जिसके योग्य हो वही काम उस को सौंपना चाहिए। 'योग्यं योग्येन योजयेत्।' चातुर्वर्ण्य की स्थापना में यही भावना थी। इसमें बाप, बेटे का और बेटा बाप का लिहाज नहीं करता था। आज वर्णव्यवस्था की गड़बड़ के कारण भारतवर्ष की बड़ी हानि हो रही है।

चातुर्वर्ण्य समाज का विराट रूप है। इसमें क्षमा और विवेक-सागर ब्राह्मण मस्तक माने गये हैं। पराक्रमी वीर क्षत्रिय बाहु माने गये हैं, उदार दानी वैश्य पेट माने गये हैं और सेवा करने वाले शूद्र पैर माने गये हैं।

मित्रो! शरीर में प्रत्येक अङ्ग अपने उचित स्थान पर ही शोभा पाता है। पैर की जगह पैर की शोभा है और मस्तक की जगह मस्तक की। अगर पैर हाथ बन जाए और हाथ पैर बन जाय अर्थात् पैरों का काम हाथों से और हाथों का काम पैरों से लिया जाय, इसी प्रकार मस्तक का काम भुजाओं से और भुजाओं का काम मस्तक से लिया जाय तो काम चल सकता है? नहीं। अपने-अपने स्थान पर ही सब की शोभा है। फिर भी सब अङ्गों के लाभ का ध्यान रखना चाहिए। मस्तक विचार का स्थान है। अगर यह अपना काम छोड़ दे तो शरीर निकम्मा बन जाता है। अगर हाथ यह कहे, कि मैं पेट के लिए श्रम क्यों करूँ; तो नतीजा

क्या होगा ? पेट के साथ-साथ हाथ की कमबख्ती आ जाएगी। इस प्रकार आप विचार कीजिए तो विदित होगा कि एक को दूसरे की अनिवार्य आवश्यकता है, अतएव सभी को सब का ध्यान रखना चाहिए। अगर आप पैर की परवाह नहीं करेंगे तो पंगु कौन बनेगा ? आप स्वयं ही या और कोई ?

जो बात शरीर के विषय में है वही समाज के विषय में समझनी चाहिए। ब्राह्मण की जगह ब्राह्मण, क्षत्रिय की जगह क्षत्रिय, वैश्य की जगह वैश्य और शूद्र की जगह शूद्र रहें, यही उचित एवं शोभास्पद है।

ब्राह्मणों का काम समाज को ज्ञान देना, क्षत्रियों का काम रक्षा करना, वैश्यो का काम धनसंग्रह करना और शूद्रो का काम सेवा बजाना था। पर आज उल्टी गङ्गा बह रही है। आज बहुत-से ब्राह्मण शूद्रो का काम करते हैं। आज 'पीर बबर्ची भिश्ती खर' की कहावत चरितार्थ हो रही है। सेठजी के घर पानी भरने वाला ब्राह्मण, रसोई बनाने वाला ब्राह्मण, और कहाँ तक कहा जाय सब काम करने वाला ब्राह्मण ! हाय ! यह कैसी विपरीत दशा है !

प्राचीन काल के ब्राह्मण ब्रह्मचर्य पालने वाले, लोभ लालच को लात मार कर सन्तोषमय जीवन व्यतीत करने वाले और संसार को सद्ज्ञान का उपदेश देने वाले थे। इसलिए वे संसार के गुरु और पूजनीय माने जाते थे।

इसी प्रकार पहले के क्षत्रिय रक्षा करते थे। देश की रक्षा के लिये वे प्राण तक निछावर करने में नहीं हिचकते थे। गरीबों की रक्षा करना अपना परम धर्म समझते थे तथा परनारी को

माता के समान पूजना—आराध्य देवी समझना—अपना कर्त्तव्य समझते थे। पर यह सब तब होता था जब क्षत्रिय इन्द्रियदमन करने वाले, अपने वीर्य की रक्षा करने वाले होते थे। जो क्षत्रिय स्त्रियों का गुलाम बन जाता है, जो विषयभोग में मस्त रहता है वह कभी देश की रक्षा नहीं कर सकता। प्राचीन समय में क्षत्रिय-नारियाँ भी वीर हुआ करती थीं। वे विषय की गुलाम नहीं थीं। किसी अवसर पर अपने पति को पथ विचलित होते देख कर प्रत्येक उचित उपाय से उसे रास्ते पर लाती थीं। इसके लिए उन्होंने अपने प्राणों का भी बलिदान किया है।

मैंने एक पुस्तक में वनराज चावड़ा की कथा पढ़ी थी। वह गुजरात में बड़ा वीर हो गया है। उन दिनों उसकी शूरवीरता की धाक थी। उसके शौर्य की यशोगाथा सर्वत्र सुन पड़ती थी। मारवाड़ के राजाओं पर वनराज चावड़ा की गहरी छाप थी। एक बार मारवाड़ वालों ने सोचा—हमारे मारवाड़ में भी एक वनराज चावड़ा होना चाहिए। उन्होंने मिल कर यह फैसला किया कि वनराज चावड़ा पैदा करने के लिए वनराज चावड़ा के 'पिता' की आवश्यकता होगी। जब वे यहाँ आवें तो किसी वीर क्षत्रियाणी के साथ उनका ब्याह करके वनराज चावड़ा पैदा कर लिया जाय। फैसला तो हो गया, पर उन्हें मारवाड़ में किस प्रकार लाया जाय यह समस्या खड़ी हुई। एक भाट ने कहा—'आज्ञा हो तो वनराज के पिता को मैं मारवाड़ में ले आऊँ ?'

भाट की बात सभी ने स्वीकार की। भाट चला और वनराज के पिता के पास पहुँचा। वनराज के पिता कविता के बहुत शौकीन थे। भाट ने उन्हें वीर-रस का प्रवाह बहा देने वाली

सुन्दर भाव-पूर्ण कविताएँ सुनाईं। उन्होंने प्रसन्न होकर यथेष्ट माँग लेने की आज्ञा दे दी। भाट ने हाथ जोड़ कर कहा—'महाराज ! मैं आप ही को चाहता हूँ।'

राजा—मुझे ?

भाट—जी हाँ, अन्नदाता !

राजा उसी समय सिंहासन से उतर पड़ा। लोगों ने बहुतेरा समझाया, पर वह न माना। सच्चे क्षत्रिय वीर अपने वचन के पालन के लिए प्राण दे देना खिलवाड़ समझते थे। वे आप लोगों की तरह कह कर और हस्ताक्षर करके मुकर जाने वाले नहीं थे। अन्त में वनराज का पिता और भाट घोड़ों पर सवार होकर चल दिये। मार्ग में एक जंगल आया। वहाँ एकान्त देख कर वनराज के पिता ने पूछा—'भाई, मैं चल रहा हूँ, मगर मुझे ले जाकर करोगे क्या ? अगर कोई आपत्ति न हो तो बताओ।'

भाट ने कहा—अन्नदाता ! मारवाड़ में एक वनराज की आवश्यकता है। आप वनराज के जनक हैं। आप ही इस आवश्यकता को पूरा कर सकते हैं। इसी उद्देश्य से आपको कष्ट दे रहा हूँ।

राजा—बात तो तुम्हारी ठीक है, पर अकेला मैं क्या करूँगा ? वनराज पैदा करने के लिए वनराज की माँ भी तो चाहिए।

भाट—महाराज, वहाँ किसी वीर क्षत्रियाणी से आपका विवाह कर देंगे।

राजा—मगर वनराज पैदा करने के लिए ऐसी-वैसी माता से काम नहीं चलेगा। उसके लिए कैसी माता चाहिए, सो मैं

बताता हूँ। यह वनराज की माता की कहानी है। एक बार मैं रानी के महल में गया। उस समय वनराज छह महीने का बच्चा था। मैं रानी के साथ कुछ विनोद करने लगा। रानी ने मना करते हुए कहा—आप इस समय ऐसा न कीजिए। मैं पर-पुरुषों के सामने अपनी आबरू खराब नहीं कराना चाहती।

मैंने रानी से पूछा—यहाँ मेरे सिवाय और कौन पुरुष है?

रानी ने पालने की ओर इशारा करके कहा—यह सो रहा है न?

मैंने कहा—'बाहरी सती! एक छह महीने के बच्चे का इतना खयाल करती है?' और मैंने उसके कन्धों के ऊपर अपने हाथ रख दिये।

वनराज ने उसी समय अपना मुँह फेर लिया। रानी ने कहा—देखा आपने? आप जिसे अबोध बालक समझते हैं उसने मुँह फेर लिया! हाय! पर-पुरुष के आगे मेरी इज्जत चली गई। आपने उसे पुरुष नहीं, माँस का पिंड समझा और मुझे बेआबरू कर दिया।

दूसरे दिन वनराज की माता ने विष-पान करके प्राण त्याग दिये!

तुम्हारे यहाँ मारवाड़ में ऐसी कोई वीराङ्गना मिल सकेगी?

भाट ने कहा—यह तो मुश्किल है महाराज!

राजा—तो बतलाओ, वनराज कैसे पैदा होगा?

अन्त में निराशा के साथ भाट ने महाराज को वापस लौट जाने की प्रार्थना की। वनराज के पिता गुजरात लौट गये।

मित्रो ! इस कथा का आशय यह है कि वीर क्षत्रियाणियों से ही वीर क्षत्रिय-पुत्र पैदा हो सकते हैं और उन्हीं पर संसार का उद्धार निर्भर है। संसार का उद्धार करने वाले महान् पुरुष क्षत्रिय-वंश में पैदा हुए थे। समस्त तीर्थंकर और राम, कृष्ण आदि अवतार माने जाने वाले महात्मा पुरुष भी इसी वंश में उत्पन्न हुए थे। वीर क्षत्रिय फौलाद का बना हुआ पुतला है। उसे अपने संकल्प से डिगाने की किसी में क्षमता नहीं है। ऐसे दृढ़-संकल्प पुरुष ही संसार में कुछ कर गुजरते हैं। कष्ट-सहिष्णुता जैसी क्षत्रियों में होती है, वैसी और किसी मे नहीं।

उदाहरण के लिए कर्ण को लीजिए। कर्ण वास्तव में कुन्ती का पुत्र था किन्तु संयोगवश वह दासरथी का पुत्र कहलाया। वीर पांडव और कर्ण द्रोणाचार्य से शस्त्र-विद्या सीखते थे। द्रोणाचार्य पाण्डवों को मन लगा कर सिखाते, पर कर्ण को नहीं। कर्ण को यह बात बहुत बुरी लगी। आखिर कर्ण से न रहा गया और उसने आचार्य से इस पक्षपात का कारण पूछा। द्रोणाचार्य ने कहा—'हंस का भोजन कौवों को नहीं दिया जाता।'

कर्ण तेजस्वी पुरुष था। उसने यह उत्तर सुना तो उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। वह अपना अपमान न सह सकने के कारण वहाँ से चल दिया। उसने मन ही मन प्रतिज्ञा की—देखें, शस्त्र-विद्या में अर्जुन बढ़कर निकलता है या मैं ?'

उन दिनों परशुराम धनुर्वेद के आचार्य माने जाते थे। पर उनका प्रण था—सिवा ब्राह्मण के यह विद्या किसी और को नहीं सिखाऊँगा।

कर्ण को परशुराम के प्रण का पता था। वह ब्राह्मण का रूप धारण करके परशुराम के आश्रम में पहुँचा और उनसे धनुर्विद्या सिखाने की प्रार्थना की।

परशुराम ने उसका परिचय पूछा तो उसने अपने को ब्राह्मण बतला दिया! अन्त में परशुराम ने उसकी प्रार्थना अंगीकार करली और कर्ण आश्रम में रहने लगा।

कर्ण परशुराम की अनन्य-भाव से सेवा करता था। परशुराम उसकी सेवा पर मुग्ध हो गया और उसे दिल खोल कर सिखाने लगा। कुछ दिनों बाद कर्ण ने सेवा और अधिक करना आरम्भ कर दिया। पर उसका असर उल्टा हुआ। सेवा की अधिकता ने परशुराम के हृदय में शंका उत्पन्न कर दी। वह सोचने लगा—ब्राह्मण-कुमार इतनी कठोर सेवा नहीं कर सकता। कदाचित् ब्रह्मणेतर न हो!

एक दिन की बात है कि परशुराम कर्ण की गोद में सिर रखकर सो रहे थे। एक कीड़े ने कर्ण की जांघ पर ऐसा काटा कि खून बहने लगा। जांघ इधर-उधर करने से गुरुजी की निद्रा भंग होने का उसे भय था। गुरु-भक्त कर्ण ने अपने कष्ट की परवाह न करते हुए धैर्य रक्खा और निश्चल बैठा रहा।

जांघ से बहा हुआ खून परशुराम के शरीर को छू गया। खून की तरी से परशुराम चौंक कर उठ बैठे। कर्ण से खून बहने का कारण पूछा। कर्ण ने कीड़े के काटने का हाल कह सुनाया।

परशुराम ने क्रोध से कहा—ब्राह्मणकुमार इतना धैर्य नहीं रख सकता। सच-सच बता, तू कौन है?

कर्ण ने हाथ जोड़ कर मस्तक झुका कर कहा—अपराध क्षमा हो। मैं क्षत्रिय-पुत्र हूँ।

परशुराम—तो मेरे आश्रम में आकर तूने असत्य-भाषण क्यों किया ? असत्य भाषण की सजा तेरे लिये यही है कि इसी समय आश्रम से बाहर हो जा। आज, अभी, तुझे निर्वासित किया गया। दूसरे को इस घोर अपराध की सजा बहुत कठोर दी जाती पर तूने मेरी बहुत सेवा की है। जा, तेरी विद्या सफल होगी।

कर्ण विनम्रता-पूर्वक आश्रम से बाहर हो गया।

मित्रो ! कष्ट-सहिष्णुता का नमूना देखिए। जाँघ मे घोर वेदना होने पर भी कर्ण गुरुजी की निद्रा-भंग होने के डर से विना हिले डुले ज्यों का त्यों बैठा रहा। कर्ण की गुरु-भक्ति प्रशंसनीय है।

आज आप अपने को निर्बल और निर्वीर्य समझते हैं; पर आपके पूर्वज ऐसे नहीं थे। वे अतुल शक्ति के धनी थे। वे संसार की बहादुर से बहादुर जाति का मुकाबिला कर सकते थे। तुम भूल गये हो, तुम्हारे पूर्वजों ने अपने प्रचण्ड भुजदण्ड के बल पर न जाने कितने साम्राज्यों का निर्माण किया है और न मालूम कितने गर्वीले सम्राटों की शान को धूल में मिलाया है ! एक समय तुम्हारे पुरुषाओं के इशारे पर भारतवर्ष चलता था। उनकी जबर्दस्त धाक से दुनियाँ काँपती थी। भारत उन पर अभिमान करता था। प्रजा उन्हें अपना रक्षक मानती थी और बड़े-बड़े वीर उनके आदेश की प्रतीक्षा करते थे।

जिनके पूर्वजों ने अपने देश की रक्षा की, वे आज अपने प्राणों की रक्षा के लिए दूसरों का मुँह ताकते हैं ? जिनके पूर्वज अपनी जीवन-संगिनी तलवार के बल पर निर्भय सिंह की भाँति

विचरते थे, वे आज अपनी बनियाई के लिए दुनिया में बदनाम हो रहे हैं। जिनके पूर्वज अन्याय और अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए हँसते-हँसते सिर कटवा देते थे, वे आज अपनी जिन्दगी गुजारने के लिए अन्याय और अत्याचार के आगे माथा टेकने में लज्जित नहीं होते! जिनके पूर्वज किसी समय देश के आधार थे; वही आज अगर भार बन रहे हों तो कितने परिताप की बात है।

मित्रो! अर्थ को ही अपने जीवन की क्षुद्र सीमा मत बनाओ। अर्थ के घेरे से बाहर निकलो और देखो, तुम्हारा इतिहास कितना उज्ज्वल है, कितना तेजस्वी है, कितना वीरता-पूर्ण है। इतिहास तुम्हारे पूर्वजो की यशोगाथाओं से भरा पड़ा है। उसका प्रत्येक पृष्ठ उनके उद्दाम शौर्य का साक्षी है। तुम साधारण पुरुष नहीं हो। तुम्हारी रग-रग में क्षत्रिय-रुधिर चक्कर काट रहा है। तुम में कोई राठौर, कोई सीसोदिया और कोई चौहान है। कायरता की मनोवृत्ति त्यागो। अपनी शक्ति को समझो। निर्भय बनो।

तुम उस परम पुरुष के समान हो जिसके 'महावीर' नाम में ही शूरवीरता भरी हुई है और प्रचण्ड पराक्रम का प्रतीक 'सिंह' जिसका निशान था! तुम उस 'जैन-धर्म' के आराधक हो जिसके नाम में ही विजय का-जीत का—संदेश सुनाई दे रहा है। जिसका आराध्य सिंह से अङ्कित महावीर है; जिसका धर्म विजयिनी शक्ति का स्रोत है, उसे कायरता शोभा नहीं देती। उसे वीर होना चाहिए।

संयम धारण करके काम, क्रोध आदि आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना भी वीरता का ही कार्य है, परन्तु समग्र

का विचार अवश्य कर लेना चाहिए। जिस समय सांसारिक जिम्मेवारी आ पड़े उसी समय वैराग्य उत्पन्न हो तो समझना चाहिए कि यह खोटा वैराग्य है। जिस समय महाभारत युद्ध की तैयारी हो रही थी उस समय अर्जुन को वैराग्य चढ़ा। तब कृष्ण ने अर्जुन को फटकारा—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषये समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ! ॥

ऐ अर्जुन ! ऐसे विषम समय में नीच पुरुषों द्वारा अभिनन्दित, स्वर्ग-प्राप्ति को रोकने वाला और अपकीर्त्ति फैलाने वाला यह अज्ञान तुम्हें कहाँ से आ गया ? इस समय का वैराग्य नरक में डालने वाला है।

भाइयो ! इस प्रकार की क्षत्रियों को शोभा देने वाली वीरता पैदा करने के लिए आत्मा में पवित्रता होनी चाहिए। जिस क्षत्रिय के हृदय में दुर्व्यसनों ने अड्डा बना लिया हो उसमें ऐसी वीरता नहीं आ सकती, वह महाकायर होता है। जो स्वयं विषयों का दास है वह संसार पर शासन कैसे करेगा ?

जिसे किसी प्रकार का व्यसन लगा हुआ है वह स्त्री-लंपट हुए बिना नहीं कर सकता। जो स्त्री-लंपट होगा वह अपने वीर्य की रक्षा नहीं कर सकता और जो वीर्यहीन होगा उसमें बल कहाँ ? बल के बिना संसार में वह अपना प्रभाव कैसे जमा सकता है ?

भगवान् ऋषभदेव ने वीर्य की रक्षा की थी, तभी तो वे संसार के पूजनीय हुए। आज न केवल जैन बल्कि वैष्णव लोग

भी उनको अपना देव मानते और पूजते हैं। संसार वीर्यशालियों की पूजा करता है। आप अपने पूर्वजों के समान वीर्यशाली बनो और अपने धर्म को सम्भालो।

यही बात मुझे वैश्य भाइयों से कहनी है। वैश्य देश के पेट के समान हैं। पेट आहार को स्थान अवश्य देता है परन्तु उस आहार का उपभोग समस्त शरीर करता है। वह सिर्फ अपने ही लिए आहार जमा नहीं करता। वैश्य देश की आर्थिक-दशा का केन्द्र है। देश की आर्थिक-स्थिति को सुधारना उसका कर्त्तव्य है। वैश्यों को आनन्द-श्रावक का आदर्श अपने सामने रखना चाहिए और स्वार्थमय वृत्ति का त्याग कर जन-कल्याण की भावना को हृदय में स्थान देना चाहिए।

शूद्रों की दशा आपने बदतर बना दी है। इसी कारण देश आज पशु बन गया है। अगर आप अपनी और अपने देश की सर्वाङ्गीण समुन्नति चाहते हैं तो उन्हें ऊँचा उठाइये। उन सेवकों को प्रेम की दृष्टि से देखिए। उन्हें अपने मनुष्यत्व का भान होने दीजिए। उन्हें समर्थ बनाइये।

इस प्रकार जैसे वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म की अपेक्षा से है, उसी प्रकार संसार की समस्त वस्तुएँ अपेक्षा पर ही स्थित हैं। इस सापेक्षवाद को अनेकान्तवाद या स्याद्वाद कहते हैं।

धार्मिक कलह और क्लेश का मूल एकान्तवाद है। जहाँ एक धर्म के अनुयायी ने दूसरे धर्म के दृष्टि-कोण को समझने का प्रयत्न न किया और उसमें रहने वाली आंशिक सचाई को अस्वीकार किया कि कलह का आरम्भ हो जाता है। इस कलह का अन्त करने का अमोघ उपाय स्याद्वाद है। दार्शनिक जगत् में

शान्ति स्थापना का इससे अच्छा और कारगर उपाय दूसरा नहीं है। अतएव स्याद्वाद को अपनाओ। उसे अपने जीवन का मूल-मंत्र बनाओ। कदाग्रह को त्याग कर उदार-भाव से वीतराग द्वारा प्ररूपित मंगल-मार्ग का अनुसरण करो। इसी में आपका कल्याण है, इसी में देश का कल्याण है और यही विश्व-कल्याण का राज-मार्ग है।

भीनासर
८—६—२७

विवेक
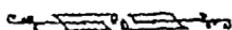
मकान की मजबूती के लिए नींव की मजबूती आवश्यक है। जिस मकान की नींव मजबूत नहीं होती वह टिकाऊ नहीं होता। पहले नींव डाली जाती है फिर उसके ऊपर मकान चुना जाता है। धर्म रूपी महल को टिकाऊ बनाने के लिए भी नींव की जरूरत है—वह नींव है अधिकार का निर्णय। वास्तविक अधिकारी के बिना धर्म वास्तविक लाभ नहीं पहुँचाता। मकान कितना ही सुन्दर क्यों न हो, नींव के बिना उसके किसी भी क्षण ढह जाने की संभावना रहती है।

धर्म का अधिकारी कौन है? यों तो जीव मात्र धर्म के अधिकारी हैं, पर किस प्रकृति वाले को कैसे धर्म की शिक्षा देनी चाहिए, इस बात का चतुर उपदेशक को अवश्य निर्णय कर लेना चाहिए।

संसार-व्यवहार से योग्यता की परीक्षा की जाती है। जिस मनुष्य की जैसी योग्यता है वैसा ही काम उसे सौंपा जाता है। इससे न तो काम बिगड़ता है और न उस मनुष्य की असफ-

लता होती है । जो जिसके योग्य नहीं है उसे वह कार्य सौंपा जाय तो काम सिद्ध नहीं होगा और वह मनुष्य दोई दीन से चला जायगा। अयोग्य काम में उसे सफलता नहीं मिलती और योग्य काम उसे नहीं सौंपा गया । इस तरह वह न इधर का रहता है, न उधर का रहता है । यही कारण है कि लोक व्यवहार में प्रायः वही काम उसे सौंपा जाता है जिसके योग्य वह होता है । जब व्यवहार में इस बात का ध्यान रक्खा जाता है तब धर्म में क्यों नहीं रखा जाना चाहिए ?

आज हरएक सम्प्रदाय वाला अपना-अपना दल बढ़ाने की चेष्टा करता है पर इस बात का विचार नहीं किया जाता कि कौन किस धर्म के पालने में समर्थ है और कौन नहीं ?

धर्म के अधिकारी का शास्त्र में नाम है—मार्गानुसारी । जैसे विदेशयात्रा पर जाने से पहले सब प्रकार की तैयारी की जाती है, इसी प्रकार मोक्ष-पथ पर चलने के लिए मार्गानुसारी पहले बनना चाहिए ।

मार्गानुसारी के कर्त्तव्यों का शास्त्र में विस्तृत वर्णन है । किन्तु यहाँ संक्षेप में ही आप लोगों को कुछ बातें समझा देना चाहता हूँ । सर्वप्रथम मार्गानुसारी में विवेक की आवश्यकता है । पृथक्करण की मानसिक शक्ति को विवेक कहते हैं । जैसे कुशल स्वर्णकार सोने में मिले हुए अन्य पदार्थों को अलग और सोने को अलग कर देता है, उसी प्रकार धर्माधिकारी को हरेक वस्तु का पृथकक्करण करना चाहिए । पृथक्करण करने से पता लग जायगा कि कौन-सी वस्तु ग्राह्य और कौन-सी अग्राह्य है ? मान लीजिए आपने नित्यानित्य के विषय मे पृथक्करण करना चाहा

तो आप को विदित हो जायगा कि संसार में जो अगणित पदार्थराशि विद्यमान है उसमें नाशवान् कौन-सी और अविनश्वर कौन-सी है ? अविनश्वर के साथ संबंध रखना, उस पर विश्वास रखना सुखदाता है और नाशवान् से नाता जोड़ना दुःखदायी है। कहा है—

जब लगी आतम-तत्त्व चिन्त्यो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी।

जब तक जड़-चेतन का विवेक नहीं होता तब तक कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। जड़—चेतन का विवेक हो जाना 'सम्यग्दृष्टि' है। भगवती सूत्र मे कहा है—

जिस मनुष्य को जड़-चेतन का ज्ञान नहीं हुआ, फिर भी कहता है कि मैं त्यागी हूँ, समझना चाहिए उसका खयाल गलत है। विवेक के विना सव क्रियाएँ निष्फल-सी हैं। भौंरे के द्वारा लकड़ी पर 'क' अक्षर खुद भी गया तो उसे उससे क्या लाभ है ? अगर कुछ लाभ है तो 'क' अक्षर जानने वाले को। भौंरे के लिए तो वह व्यर्थ ही है।

विवेक के विना की गई क्रिया कदाचित् अच्छी वन जाय तो भी उसे अज्ञानकृत ही समझना चाहिए।

मार्गानुसारी में विक के साथ वैराग्य की मात्रा भी होनी चाहिए। इह लोक के पदार्थों से—स्त्री, पुत्र, धन, मकान तथा स्वर्ग के सुखों की लालसा से चित्त को हटा लेना वैराग्य कहलाता है।

कुछ भाइयों का खयाल है कि वैराग्य साधु को ही हो सकता है। हम गृहस्थ लोग वैरागी कैसे हो सकते हैं ? पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। प्रत्येक प्राणी वैरागी वन सकता है।

वैरागी का अर्थ वस्तुओं का परित्याग कर देना ही नहीं है। मान लीजिए किसी साधु ने सांसारिक वस्तुएँ त्याग दीं, पर उसके अन्तःकरण में उन वस्तुओं के प्रति अब भी लालसा बनी हुई है तो क्या उसे वैरागी कहना चाहिए ? नहीं। इसके विपरीत चाहे स्त्री पास रहे, धन रहे, पुत्र रहे, फिर भी अगर इनमें तल्लीनता नहीं है तो वह वैराग्य है। कमल जल मे रहता है फिर भी जल से अलिप्त रहता है। ऐसा ज्ञान जड़-चेतन अर्थात् नश्वर-अनश्वर का विवेक होने पर उदित होता है।

जिसने शरीर को नाशवान् और आत्मा को अविनाशी समझ लिया, क्या शरीर के नाश होने पर उसे दुःख हो सकता है ? आत्मतत्त्व का परिज्ञान हो जाने पर शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ तो भी दुःख का स्पर्श नहीं होता।

शरीर नाशवान् है, इसलिए विवेकी उसकी रक्षा करता है। जो वस्तु नाशवान समझी जाती है उसीकी रक्षा की जाती है। अविनाशी वस्तु की रक्षा की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं रक्षित है। आग लगने पर घास के झोंपड़े की रक्षा करने की फिकर होती है, न कि पत्थर के मकान की।

कामदेव बडा श्रावक था। उसके पास अठारह करोड़ दीनारें और साठ हजार गौएँ थी। इसीसे उसके वैभव का अनुमान किया जा सकता है। पर क्या वह देवता की तलवार से भयभीत हुआ था ? शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देने पर भी उसे चिन्ता हुई थी ?

मित्रो ! आपके वैभव से उसका वैभव अधिक ही था फिर भी जब उसे मृत्यु का भय नहीं था तब फिर आप मौत के नाम

से क्यों डरते हैं ? इस अन्तर का कारण यही है कि वह शरीर को नाशवान् मानता था और भोगविलासों से विरक्त था। पर आप इससे उलटा समझे हुए हैं।

याद रखिए, शुद्ध विवेक के बिना आप कल्याण-मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकते। विवेक कल्याण-प्राप्ति की पहली शर्त है।

आपने पत्नी का पाणिग्रहण धर्म-पालन के लिए किया है। इसी प्रकार स्त्री ने भी आपका। जो नर या नारी इस उद्देश्य को भूल कर खान-पान और भोग-विलास में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं वे धर्म के पति-पत्नी नहीं वरन् पाप के पति-पत्नी हैं।

आज ऐसे धर्म के जोड़े बहुत कम नज़र आते हैं। आज-कल तो यह दशा है कि जो ज्यादा गहने पहनाता है वही अच्छा पति माना जाता है। विपत्ति आने पर जो पति, अपनी पत्नी से गहने माँग लेता है, उसे उसकी पत्नी राक्षस-सा समझने लगती है। इसका अर्थ यही हुआ न कि पति, पति नहीं किन्तु जेवर पति है ?

मैं जब गृहस्थ-अवस्था में था, तब की बात है। मेरे गाँव में एक बूढ़े ने विवाह करना चाहा। एक विधवा बाई की एक लड़की थी। बूढ़े ने वृद्धा के सामने विवाह का प्रस्ताव उपस्थित किया मगर उसने और उसकी लड़की दोनों ने उसे अस्वीकार कर दिया। कुछ दिनों बाद उस बूढ़े की रिश्तेदार कोई स्त्री उस बाई के पास आई और उसे बहुत-सा जेवर दिखलाते कहा—तुम्हारी लड़की का विवाह इनके साथ हो जायगा तो इतना जेवर पहनने को मिलेगा। लालच में आकर विधवा ने अपनी लड़की का विवाह उस बूढ़े के साथ कर दिया।

मेवाड़ की भी एक ऐसी ही घटना है। एक धनी वृद्ध के साथ एक कन्या का विवाह होना निश्चित हुआ। समाज-सुधारकों ने लड़की की माता को ऐसा न करने के लिए समझाया। लड़की की माता ने कहा पति मर जायगा तो क्या हुआ, मेरी लड़की गहने तो खूब पहनेगी।

मित्रो ! आप ही बतलाइए, उक्त दोनो विवाह किसके साथ हुए ?

'धन के साथ !'

'पति के साथ तो नहीं ?'

'नहीं !'

'धन ही इन कन्याओं का पति बना !

भाइयो ! आपको मेरा कहना शायद अप्रिय लगेगा, पर समाज की दयनीय और भयानक दशा देख कर मेरे हृदय में आग धधक रही है इसलिए कह देता हूँ कि समाज का सत्यानाश करने वाली रीतियों को आप तुरंत त्याग दीजिए। आप अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए विधवा बहिनों को सोना पहनाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं, पर यह बहुत बुरी चाल है। यह चाल विधवा-धर्म से विरुद्ध है। मानव की प्रतिष्ठा, फिर चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, उसके सद्गुणों पर अवलंबित रहनी चाहिए। वही वास्तविक प्रतिष्ठा है। धन से प्रतिष्ठा का दिखावा करना मानवीय सद्गुणों के दिवालियेपन की घोषणा करने के समान है। आप कहते हैं—बिना आभूषणों के विधवा अच्छी नहीं लगती, इसलिए आभूषण पहनाते हैं। मैं समझता हूँ, ऐसा सोचने में विलासमय वृत्ति

से काम लिया जाता है। विधवा वहिन के मुख मण्डल पर जब ब्रह्मचर्य का तेज विराजमान होगा तो उसके सामने आभूषणों की आभा फीकी पड़ जाएगी। चेहरे की सौम्यता बलात् उसके प्रति आदर का भाव उत्पन्न किये बिना न रहेगी। उसके तप, त्याग और संयम से उसके प्रति असीम श्रद्धा का भाव प्रकट होगा। इनमें क्या प्रतिष्ठा नहीं है? सच समझो तो यही उत्तम गुण उसकी सच्ची प्रतिष्ठा के कारण होंगे। ऐसी अवस्था में कृत्रिम प्रतिष्ठा के लिये उसे वैधव्य-धर्म के विरुद्ध गहने आदि की आवश्यकता नहीं रहेगी। इसलिए अच्छी न लगने का मोह और भय छोड़ो और निर्भय होकर जैसे धर्म की रक्षा हो वैसा प्रयत्न करो।

विधवा वहिनों से भी मेरा यही कहना है कि अब परमेश्वर से नाता जोड़ो। धर्म को अपना साथी बनाओ। संयम से जीवन व्यतीत करो। संसार के राग रंगों को और आभूषणों को अपने धर्म-पालन में विघ्नकारी समझ कर उनका त्याग कर दो। इसीमें आपकी प्रतिष्ठा है, इसीमें आपकी महिमा है। आप संसार की आदर्श त्यागशीला देवियाँ हैं। आपको गृहस्थी के ऐसे प्रपंचों से दूर रहना चाहिए, जिनसे आपके धर्म-पालन में बाधा पहुँचती है।

आज भारत का दुर्भाग्य है कि छोटी-छोटी बातों के लिए भी उपदेश देना पड़ता है। साधुओं को पति-पत्नी के झगड़े में पड़ने की क्या आवश्यकता है? किन्तु सामान्य धर्म का नाश होते देख करके भी विशेष धर्म के पालन का उपदेश देना थोथा धर्माडम्बर है। सामान्य धर्म का भलीभाँति पालन होने पर ही विशेष-धर्म का पालन हो सकता है। सामान्य धर्म के अभाव में विशेष-धर्म का पालन होना सम्भव नहीं है।

पृथ्वीसिंहजी साहब ! आज जनता में भयंकर रोग घुसे हुए हैं। आप बीकानेर नरेश के संबंधी हैं, अतएव आपसे यह कह देना उचित है कि आप लोगों पर इन रोगों की चिकित्सा का बड़ा भारी उत्तरदायित्व है। अगर लोग धर्म के कानून को न मानें तो आप लोगों को चाहिए कि राजकीय कानून बना कर इन रोगों का मुँह काला करें। बालविवाह और वृद्धविवाह इन रोगों में प्रधान हैं। इन रोगो की बदौलत अन्य बहुत से रोग उत्पन्न होते हैं। इनसे आपकी प्रजा का घोर पतन हो रहा है। आपके राज्य की शोभा वीर प्रजा से है, न कि निर्बल प्रजा से।*

महाराज हरिश्चन्द्र का धर्म-मर्यादा का पालन कौन नहीं जानता ? जिस समय राजा हरिश्चन्द्र, महारानी तारा और कुमार रोहिताश्व राज्य त्याग कर जाते हैं, उस समय समस्त नर-नारियाँ आँसू बहाती हैं। स्त्रियाँ रानी से कहती हैं—महारानीजी, आप कहाँ पधारती हैं ? आप हमारे घर में टिकिये। यह आप ही का घर है।

महारानी उत्तर देती हैं—'बहिनो ! आपके आँसू, आँसू नहीं, वरन् मेरे धर्म का सत्कार है। यह आँसू मेरे पतिव्रत धर्म का अभिषेक हैं। अगर मैं राजसी ठाठ के साथ राजमहल में विराजी रहती तो मेरे साथ आपकी इतनी सहानुभूति न होती। बहिनो ! यदि आप मेरे प्रति सच्ची सहानुभूति रखती हैं तो आप भी अपने घर में सच्चे धर्म की स्थापना कीजिए।'

---

* बीकानेर राज्य में बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह के विरुद्ध राजकीय कानून बन गया है। पूज्यश्री के सदुपदेश को इसका श्रेय प्राप्त है।

मित्रो ! आपने महारानी तारा के वचन सुने ? वह धर्म की रक्षा के लिए कितने हर्ष के साथ राजपाट त्याग कर रही है ? इसे कहते हैं वैराग्य ! लाखों करोड़ों के आभूषण पहनने वाली महारानी तारा ने ठीकरों की तरह उन्हे उतार कर फैंक दिया और मन मे तनिक भी मलीनता न आने दी। आप सामायिक करते समय पगड़ी तो उतारते है पर कभी दो घड़ी के लिए अभिमान भी उतारते हैं ? अगर नही, तो आप वैराग्य का अर्थ कैसे समझ सकते हैं ?

हरिश्चन्द्र की समस्त प्रजा विश्वामित्र को कोस रही थी। हरिश्चन्द्र चाहते तो अपने एक ही इशारे से कुछ का कुछ कर सकते थे। मगर नहीं। उन्होंने प्रजा को आश्वासन दिया कि—घबराओ नहीं। धर्म का फल कटुक कभी नहीं हो सकता।

मित्रो ! आप लोग अपना 'पोजीशन' बनाया रखने के लिए झूठ, कपट, दगा, फाटका आदि करते हो मगर हरिश्चन्द्र की तरफ देखो। उसके पीछे तमाम प्रजा की शक्ति है, फिर भी धर्म का आदर्श खड़ा करने के लिए उसे राजपाट त्यागने में तनिक-सी भी हिचकिचाहट नहीं है। लोग दमड़ी-दमड़ी के लिए झूठ बोलने के लिए तैयार रहते हैं। उनमें ऐसी आस्तिकता कहाँ ?

राजा हरिश्चन्द्र दृढ़ आस्तिकता के कारण ही हजारों वर्ष बीत जाने पर भी आज हम लोगों के मनोमन्दिर में जीवित हैं। उनकी पवित्र कथा हमें धर्म की ओर इंगित कर रही है, प्रेरित कर रही है।

पृथ्वीसिंहजी साहब ! यदि आपके नगर में महाराज हरिश्चन्द्र आवें तो आप उन्हें क्या भेंट चढ़ाएँगे ?

पृथ्वीसिंहजी—'सभी कुछ महाराज !'

आप सभी कुछ चढ़ाने के लिए क्यों तैयार हैं? उनके सत्य को देख कर। क्या इस सत्य धर्म की प्रजा में प्रतिष्ठा नहीं होनी चाहिए? सत्य के लिए वीरता की आवश्यकता है और वीरता वीर्य-रक्षा से आती है। आज प्रजा का वीर्य नष्ट हो रहा है। इसे रोक कर क्या आप प्रजा की रक्षा का श्रेय प्राप्त न करेंगे?

प्यारे मित्रो! यदि आप इन रोग-राक्षसों को पहचान गये हों तो इन्हें—बालविवाह और वृद्धविवाह को—तिलांजलि दीजिए और अपने दूसरे भाइयों को समझाइए। अगर वे न समझें तो सत्याग्रह कीजिए। उनसे साफ शब्दों में कह दीजिए—अब हम ऐसे अत्याचार हर्गिज न होने देंगे।

धर्म के खातिर राजा हरिश्चन्द्र ने राज-पाट ही नहीं छोड़ा पर विश्वामित्र को दक्षिणा चुकाने के लिए आप अपनी पत्नी सहित बिक गये। धर्म की रक्षा त्याग से होती है, तलवार से नहीं।

रामचन्द्रजी ने भी त्याग के द्वारा ही अपने धर्म की रक्षा की थी। वे चाहते तो स्वयं राज्य के स्वामी बन सकते थे। सभी लोग उनके पक्ष में थे, स्वयं भरत भी यही चाहते थे। पर रामचन्द्र राज्य के भूखे नहीं थे। वे ससार को जलाने वाली पाप की अग्नि बुझाना चाहते थे। उन्हें मालूम हुआ कि मेरे ही घर में ऐसा द्वैत फैल गया है। एक ही राजा के पुत्रों मे भी ऐसी भिन्नता समझी जाने लगी तब यह आग संसार मे कितनी न फैल रही होगी? उसे शान्त करने के लिए राम ने राज्य का परित्याग किया। राम के इस त्याग से संसार सुधर गया। अकेली कैकेयी क्या सुधरी, भारत रूपी कैकेयी का सुधार हो गया।

कर रही है। उसका यह विज्ञान जड़-विज्ञान है। इससे विपरीत मनुष्य अपने विज्ञान को बढ़ा सकता है। वह नित्य नवीनता ला सकता है। मनुष्य मधुमक्खी के ही नहीं, वरन् सारी सृष्टि के विज्ञान को अपने मस्तिष्क में भर सकता है। मस्तिष्कशक्ति की विशिष्टता के कारण मनुष्य मधुमक्खी से बड़ा है।

मनुष्य के विज्ञान ने घड़ी, रेल, बिजली, वायुयान, बेतार का तार आदि अनेक अन्वेषण किये हैं। मानवीय विज्ञान की बदौलत, अमेरिका के प्रेसीडेन्ट के अमेरिका में होने वाले भाषण को आप घर बैठे अनायास ही सुन सकते हैं। यहाँ की प्रधान अभिनेत्री के नृत्यकला के हावभाव आप घर बैठे देख सकते हैं। इस विज्ञानशाला ने कइयों की आँखें खोल दी हैं। पहले अग्नि भोजन बनाने के काम आती थी और पानी का प्रायः पीने में प्रधान उपयोग होता था। पर अब उसकी सहायता से ऐसे-ऐसे काम किए जाते हैं कि उन्हें देखकर और सुन कर आश्चर्य का पार नहीं रहता। पानी से बिजली निकाली जाती है और वह आपके घरों को जगमग-जगमग कर देती है। साथ ही और भी सैकड़ों काम आती है।

मनुष्य ने कितनी बड़ी उन्नति कर ली? मनुष्य के सिवाय दूसरा कोई प्राणी ऐसा कर सकता है? क्या मनुष्येतर प्राणी में विज्ञान के इस चमत्कार को समझने की भी शक्ति है? नहीं।

पर हमें इस मानवीय उत्कर्ष पर सूक्ष्म विचार करना चाहिए। यह मानवशक्ति दैवी शक्ति नहीं है। यह मांत्रिक शक्ति भी नहीं है। यह यांत्रिक शक्ति है। इस शक्ति से मनुष्य के सुख में वृद्धि हुई या दुःख में? इसकी बदौलत मनुष्य स्वतंत्र बना है या परतंत्र?

मैं आपसे एक प्रश्न करता हूँ। बताइए, बिजली बड़ी है या आपके घर का दीपक बड़ा है ?

मित्रो ! इस बिजली ने तुम्हारे घर का दीपक हटाकर घर की मंगल महिमा का हरण कर लिया है। बिजली के प्रताप ने तुम्हारी आँखों का तेज हर लिया है। इसकी बदौलत मनुष्य को इतनी अधिक क्षति पहुँची है कि उसकी पूर्त्ति होना बहुत कठिन है। बिजली तथा इसी प्रकार की अन्य जड़ वस्तुओं से आपको बहुत हानि पहुँची है। इन वस्तुओं ने आपके सुख को सुलभ नहीं बनाया।

आधुनिक विज्ञान की आलोचना करने का समय नहीं, फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि विज्ञान के राक्षसी यंत्रों ने विकराल विध्वंस की सृष्टि की है। विज्ञान की कृपा से ही आज संसार त्रस्त है। जगत् में हाय-हाय की गगन को गुँजित करने वाली ध्वनि सुनाई पड़ रही है, दुःखियों का जो करुण चीत्कार कर्णगोचर हो रहा है, भुखमरों का जो रोदन सुनाई दे रहा है, यह सब विज्ञान की विरुदावली का बखान है। जिनके कान हैं वे इस विरुदावली को सुनें और विज्ञान की वास्तविकता पर विचार करें।

कहने का आशय यह है कि मनुष्य की वैज्ञानिक प्रगति उसके मस्तिष्क की महिमा को भले ही प्रकट करती हो, पर उससे मनुष्य की मनुष्यता जरा भी विकसित नहीं हुई। जो विज्ञान मनुष्य की मनुष्यता नहीं बढ़ाता, बल्कि उसे घटाता है और मनुष्य की पशुता की वृद्धि करता है, उसी विज्ञान की बदौलत मनुष्य अपने आपको पशुओं से विशिष्ट—उच्च श्रेणी का मानता है! इसे

मित्रो ! बात साधारण है, छोटी-सी जान पड़ती है। पर इसके रहस्य का विचार कीजिए। बताइए उन चिड़ियों के मरने में दोष किसका है ? मृत्यु के लिए कुत्ता जिम्मेवर है या वे स्वयमेव ?

'वे स्वयमेव !'

क्यों ! उन चिड़ियों ने ऐसा कौन-सा काम किया, जिसके कारण उन्हें दुःख भोगना पड़ा ? मित्रो! प्रकृति का नियम निराला है। उस नियम को कोई तोड़ नहीं सकता।

विचार कीजिए, क्या उन चिड़ियों को घर बाँटना था ? क्या उन्हे धन-दौलत का बँटवारा करना था ? असीम आकाश में स्वच्छन्द विचरण करने वाली चिड़िया, कुत्ते की क्या बिसात क्या शेर के भी हाथ आ सकती है ? फिर वह दोनों कुत्ते के द्वारा कैसे मारी गईं ? क्रोध के कारण। क्रोध ने उनका नाश कर डाला। अगर वे क्रोध में पागल होकर अपना आपा न भूल गई होतीं तो कुत्ते की क्या मजाल कि वह उनकी परछाई भी पासके।

भाइयो और बहिनो ! आपने चिड़ियों के मरने का कारण समझ लिया। आप उन्हें यह उपदेश देने के लिए भी तैयार हो गये कि क्रोध नहीं करना चाहिए। पर आप इस उपदेश पर स्वयं भी अमल करते हैं ? मैं बहिनों से पूछता हूँ—बहिनो ! तुम तो कभी ऐसा क्रोध नहीं करतीं ?

आपकी तरफ से कोई उत्तर नहीं मिल रहा है। पर मुझे मालूम है कि अगर आप क्रोध न करती तो सास-बहू, ननद-

सौजाई एवं देवरानी-जिठानी में भी लड़ाई न होती। घर-घर कलह के अड्डे न बने होते और आपका पारिवारिक जीवन कुछ का कुछ होता।

बहिनो! कुचाल को छोड़ो। यह कुचाल तुम्हारे विवेक-रूपी पख को तोड़ डालेगी। जिस प्रकार पंखो के विना पक्षियों का सुखपूर्ण स्वच्छन्द विहार नहीं हो सकता, उसी प्रकार विवेक के नष्ट होने पर तुम्हारा मोक्ष-रूप आकाश में क्रीड़ा करना असम्भव हो जायगा। क्रोध महा-भयंकर पिशाच है। इस से सदा दूर रहा करो।

भाइयो और बहिनो! यह बात मैंने अपने मन से बना कर नहीं कही है। इसका विचार शास्त्र में आया है। गीता में भी इसकी अच्छी विवेचना की गई है।

इस महान् शत्रु के प्रताप से जीवों को अनेक वार चौकड़ी भरनी पड़ती है। तीर्थंकर क्रोध तथा इसके भाई-वन्द अन्य दुर्गुणों का समूल उन्मूलन करते हैं। इसी कारण वे 'ईश्वर' कहलाते हैं। आपकी आत्मा अनन्त गुणों की राशि है। उसमें अपरिमित गुण-रत्न भरे पड़े हैं। फिर भी आप उन गुणों को उपलब्ध नहीं कर पाते। इतना ही नहीं आप उन गुणों को पूरी तरह पहचान भी नहीं पाते हैं। अपनी चीज, अपने भीतर विद्यमान है, अपने द्वारा ही उसकी उपलब्धि होती है, फिर भी उसे आप नहीं जान पाते। यह कितनी दयनीय दशा है? जानते हो, इसका कारण क्या है? इसका एकमात्र कारण क्रोध आदि विकार हैं। विकारों ने आत्मा के स्वाभाविक गुणों को इस प्रकार आच्छादित कर रक्खा है कि आपकी दृष्टि वहाँ तक पहुँच ही नहीं

प्रस्ताव उपस्थित होने पर अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी थी। उन्होंने कन्याओं को और उनके पिताओं को स्पष्ट रूप से बतला दिया था कि मै गृहस्थावस्था मे रहना नहीं चाहता। मुझे दूसरे दिन ही जैनेन्द्री दीक्षा धारण कर लेनी है। यह सब कुछ जानते-बूझते कन्याओं ने जम्बूकुमार के साथ विवाह-संबंध स्वीकार किया था। अतएव मैंने ऊपर जो कुछ कहा है, जम्बू-चरित से उसमे कुछ भी बाधा उपस्थित नहीं होती। जम्बूकुमार ने किसी को धोखा नहीं दिया, किसी को भुलावे में नहीं रक्खा, उन्होंने पहले ही बात साफ कर दी थी।

बात यह है कि धर्म की नींव नीति है। नीति के बिना धर्म की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। जो पुरुष या स्त्री नीति को भंग करेगा वह धर्म को दीप्त नहीं कर सकता। अतएव जिस क्रिया से नैतिक मर्यादा का उल्लंघन होता है वह क्रिया धर्म-संगत कैसे कही जा सकती है?

अब यह विचार करना है कि सम्यग्दृष्टि पुरुष को किस वस्तु की कांक्षा नहीं करनी चाहिए? सम्यक्त्व धारण करने वाले को बतलाया जाता है कि स्वधर्म के देव, गुरु के सिवाय अन्य धर्म के देव और गुरु की कांक्षा नहीं करनी चाहिए। जो ऐसी कांक्षा करता है उसे दोष लगता है।

प्रश्न उठता है—स्वधर्म क्या? अपने-अपने धर्म की हर एक बड़ाई करता है। सब कहते हैं—हमारे धर्म को मानो, हमारे गुरुओं को वन्दन करो और किसी दूसरे को मत मानो। गीता मे भी कहा है—

'स्वधर्मे निधनं श्रेय परधर्मो भयावहः।'

अर्थात्—स्वधर्म मे रहते हुए मृत्यु का आलिंगन करना श्रेयस्कर है, मगर परधर्म भयंकर है।

जब तक स्वधर्म और परधर्म का ठीक-ठीक निर्णय न हो जाय, तब तक वस्तु-तत्त्व समझ में नहीं आ सकता। अतएव सर्वप्रथम यही निश्चित करना चाहिए कि वास्तव में स्वधर्म से क्या अभिप्राय है और परधर्म का क्या आशय है ?

धर्म के दो भेद हैं—एक वर्णधर्म और दूसरा आत्मिक धर्म। अगर धर्म के इस प्रकार भेद न किये जाते और धर्म का वर्गीकरण करके उसके स्वरूप को न समझा जाता तो अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता।

जैसा कि अभी कहा गया है, गीता का कथन है कि यदि अपने धर्म में कुछ कठिनाइयाँ हों और दूसरे के धर्म में सरलता दिखलाई देती हो तो भी परधर्म को न अपना कर अपने धर्म के लिए प्राण दे देने चाहिए। क्या इसका मतलब यह है कि एक शराबी शराब पीना अपना धर्म समझता है, शराब के बिना उसका काम नहीं चलता, तो इसके लिए उसे मर जाना चाहिए ? क्या इसका अर्थ यह समझा जाय कि अगर किसी पुरुष ने पर-स्त्री के साथ मौज-मजा उड़ाने में धर्म समझ लिया हो, उसके बिना उसे चैन न पड़ती हो, तब कोई इस दुष्कर्म से छुड़ाने की कोशिश करे तो उसे मर जाना चाहिए ? नहीं, इसका यह अर्थ नहीं है। राजा प्रदेशी को, जिसके हाथ सदा खून से रंगे रहते थे और जिसने जीव-हिंसा करना ही अपना धर्म मान लिया था, क्या मुनि के उपदेश से हिंसा का त्याग नहीं करना चाहिए था ? तब स्वधर्म के लिए प्राण तक न्यौछावर कर देने का आशय क्या है ?

मैंने जहाँ तक इस श्लोक पर विचार किया है तथा अन्य विद्वानो के विचार सुने हैं, उससे यह प्रतीत हुआ है कि यहाँ धर्म शब्द का संबंध वर्णाश्रम धर्म के साथ है। अपने वर्णधर्म पर डटे रहने का यहाँ प्रतिपादन किया गया है।

मित्रो! वर्णाश्रमधर्म के विषय में यदि ऐसा कड़ा उपदेश न दिया जाता तो संसार की व्यवस्था ठीक न रहती। ब्राह्मण को ब्राह्मणधर्म पर, क्षत्रिय को क्षत्रियधर्म पर, वैश्य को वैश्यधर्म पर और शूद्र को शूद्रधर्म पर कायम रहना चाहिए। इस कथन से यह आशय नहीं निकालना चाहिए कि ब्राह्मण का धर्म विद्या-ध्ययन करना है, इसलिए क्षत्रिय को विद्याध्ययन से बच कर अशिक्षित ही रहना चाहिए। तथा क्षत्रिय का धर्म वीरता धारण करना है अतएव ब्राह्मण को निर्बल एवं कायर रहना चाहिए। वैश्य का धर्म व्यापार करना है और शूद्र का सेवा करना। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वैश्य की स्त्री को कोई अपहरण कर ले जाय तो वह वीरता के अभाव में मुँह ताकता खड़ा रहे या शूद्र विद्या के सर्वथा अभाव के कारण यथोचित सेवाधर्म का पालन ही न कर पावे।

मित्रो! याद रक्खो, प्रत्येक मनुष्य में चारों गुणों का होना अत्यावश्यक है। उसके विना जीवन का यथोचित निर्वाह नहीं हो सकता। अब यह शंका होती है कि अगर प्रत्येक वर्ण वाले में चारों वर्ण वालों के गुण विद्यमान होना आवश्यक है तो वर्णाश्रम धर्म किस प्रकार निभेगा? इसका समाधान यह है कि प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक काम में प्रवीण नहीं होता। वह किसी एक कार्य में ही विशिष्ट योग्यता और सफलता प्राप्त कर सकता है। इसी आधार पर वर्ण का निर्माण किया गया है।

चारों वर्ण विराट पुरुष का स्वरूप हैं। अर्थात् समस्त मानवप्रजा चार वर्णों में विभक्त है फिर भी सामान्य की अपेक्षा मनुष्य जाति एक ही है।

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।

अर्थात्—जाति नाम कर्म के उदय से मनुष्य जाति एक-अखण्ड है।

जब तक भारतवर्ष में वर्णव्यवस्था ठीक रही तब तक उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं भोगना पड़ा। पर जब से एक मस्तक में कई मस्तक हुए, हाथों में से कई हाथ निकल पड़े अर्थात् ब्राह्मणों में कई-एक उपजातियाँ खडी हो गई, क्षत्रियो में अनेक शाखाएँ और प्रशाखाएँ बन गई, वैश्यों में विभिन्न जातियों की उत्पत्ति हुई और शूद्र वर्ण विविध हिस्सों में विभक्त हो गया, तभी से देश की हीन अवस्था आरंभ हुई और धर्म के कर्म नष्टभ्रष्ट हो गये। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' इसी अव्यवस्था को सुधारने के लिए कहा गया था। इसी गड़बड़ को मिटाने के लिए आचार्य जिनसेन ने राजाओं को सलाह दी थी कि अगर कोई वर्ण वाला अपने कर्त्तव्य-धर्म को अतिक्रमण करके अन्य धर्म का आचरण करे तो राजा को उसे रोक देना चाहिए, अन्यथा वर्ण-संकरता फैल जायगी।

गीता का स्वधर्म संबंधी कथन आत्मिक धर्म के लिए लागू नहीं हो सकता, क्योंकि नीच से नीच चांडाल तक के लिए आत्म-धर्म की आराधना का और मोक्ष का दरवाजा सदा खुला रहता है।

भाइयो ! मैं क्षात्रा के विषय में कह रहा था। फिर उसी पर आ जाइए। मान लीजिए एक क्षत्रिय युद्ध में लड़ने गया।

वहाँ उसने कुछ कठिनाइयाँ देखी तो बनिया बन जाने की कांक्षा करता है। वह विचारता है—'बनिया बन जाऊँगा तो मौत की आजीविका से बच सकूंगा और आराम से जीवन बिता सकूँगा। इस प्रकार की कांक्षा नीच कांक्षा है। ऐसी कांक्षा कभी नहीं करना चाहिए।' उसे गीता के विधान का स्मरण करते हुए अपने कर्त्तव्य पर, अपने धर्म पर हँसते हँसते, प्राण न्यौछावर कर देने चाहिए।

जिस समय वीर अर्जुन को रण में लड़ने के समय त्यागी ब्राह्मण बनने की कांक्षा हुई, तब श्रीकृष्ण ने कहा—

क्लैव्यं मास्म गम पार्थ, नैतत् त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।

हे पार्थ! इस क्लीवता—नपुंसकता को हटाओ। तुम सरीखे बहादुर क्षत्रिय के लिए यह शोभा नहीं देती। हृदय की क्षुद्र दुर्बलता का त्याग करके तैयार हो जाओ।

मित्रो! वर्णाश्रम धर्म की गड़बड़ी से ही आज भारत दीन, विपन्न और गुलाम बन गया है। जो भारत अखिल विश्व का गुरु था और सबको सभ्यता सिखाने वाला था, आज वह इतना दीन-हीन हो गया है कि आध्यात्मिक विद्या की पुस्तकें जर्मनी से मँगाता है, युद्ध-सामग्री के लिए अमेरिका के प्रति याचक बनता है, नीति और धर्म की पुस्तकों के लिए इंग्लैण्ड के सामने हाथ पसारता है। और तो और, सुई जैसी तुच्छ चीज़ के लिए भी वह विदेशियों का मुँह ताकता है। इसका क्या कारण है?

कई भाई सोचते होंगे कि महाराज शास्त्र की बातें छोड़ कर संसार की चर्चा क्यों करते हैं? मित्रो! मैं इस प्रकार की

आशंका का स्पष्टीकरण कई बार कर चुका हूँ। आप लोग गृहस्थ हैं। गृहस्थ-धर्म की शिक्षा देना साधु का कर्त्तव्य है। आप अभी साधु बनने के लिए तो मेरे पास आये नहीं हैं, तब क्या आपको आपका धर्म बतलाना अनुचित होगा ?

मैं प्रधान मंत्री से पूछता हूँ—क्या प्रधान मंत्री (सर मनू-भाई मेहता) मेरे पास सन्यास ग्रहण करने की शिक्षा के लिये आये हैं ?

(प्रधान मन्त्री ने गर्दन हिलाते हुए सूचित किया नहीं !)

आपके धर्म के अनुसार तो आपकी उम्र संन्यास धारण करने की हो गई है। फिर क्या बात है ?

यही कि आप संन्यास ग्रहण करने की इच्छा नहीं रखते। आप गृहस्थ रहना चाहते हैं। तो मुझे यह बतलाना ही चाहिए कि गृहस्थ धर्म क्या है ? गृहस्थ का कर्त्तव्य न जानोगे तो आगे कदम बढ़ना भी कठिन हो जायगा। यह बात भूल नहीं जाना चाहिए कि प्रत्येक काम मे धर्म रहा हुआ है, अगर उसे उपयोग के साथ—यतनापूर्वक किया जाय।

एक बाबाजी थली की ओर आ निकले। जंगल का मामला था। बाबाजी को भूख और प्यास सता रही थी। ऊपर से सूरज अपनी कठोर किरणें फैंक रहा था। पर विश्रान्ति के लिए न कहीं कोई वृक्ष आदि दिखाई दिया और न पानी पीने के लिए जलाशय ही नजर आया। बाबाजी हाँफते-हाँफते कुछ और आगे बढ़े। थोड़ी दूरी पर, रेतीले टीलो पर तस्तूम्बे के फल की बेल दिखाई दी। बाबाजी पहले कभी इस ओर आये नहीं थे। इस कारण इसके गुणों और दोषों से अनभिज्ञ थे। बाबाजी इन

वेलों के पास आये और पीले-पीले सुन्दर फल देखे तो वहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा—अब इनसे मैं अपनी भूख मिटाऊँगा।

बाबाजी ने एक फल तोड़ा और मुँह मे डाला। जीभ से स्पर्श होते ही उनका मुँह जहर-सा कड़ुवा हो गया। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। देखने में जो फल इतना सुन्दर है, उसमें इतना कड़ुवापन! मगर वे धुन के पक्के थे। उन्होने सोचा—देखना चाहिए, फल में कटुकता कहाँ से आई है? कटुकता की परीक्षा करने के लिए बाबाजी ने पत्ता चखा। वह भी कटुक निकला। फिर तन्तु का आस्वादन किया तो वह भी कटुक! अन्त मे जड़ उखाड़ कर उसे जीभ पर रक्खा तो वह भी कटुक निकली। बाबाजी ने मन में कहा—जिसकी जड़ ही कटुक है उसका फल मीठा कैसे हो सकता है? फल मीठा चाहिए तो मूल को सुधारना होगा।

मित्रो! आज भारत के बालक आपको देखने में, ऊपर से भले ही खूब-सूरत दिखलाई देते हों, पर उनके भीतर कटुकता भरी पडी है। प्रश्न होता है—बालको में यह कटुकता कहाँ से आई? परीक्षा करके देखेंगे तो ज्ञात होगा कि बालक रूपी फलों में माता रूपी मूल में से कटुकता आती है। अतएव मूल को सुधारने की आवश्यकता है। जब आप मूल को सुधार लेंगे तो फल आप ही आप सुधर जाएँगे। जड़ को सुधारने का भार मैं किसके सिपुर्द करूँ? मुझे तो इस समय बावाजी की जगह दीवान साहब नजर आ रहे हैं। यहाँ की भाषा में बावाजी का अर्थ है—बुजुर्ग। लोग अपने पिता या पितामह आदि को बावाजी कहते हैं। दीवान साहब प्रजा के संरक्षकों में से हैं—प्रधान हैं, अतएव उन्हे बावाजी की पदवी देना अनुचित भी न होगा।

दीवान साहब तथा अन्य भाइयो! जब आप बाजार में निकलें उस समय आपको मिठाई की दुकानें दिखाई दें या लोगो

के शरीर पर आभूषण और कीमती कपड़े दिखाई दें, तो इससे आप यह न समझ लीजिए कि हमारा देश सुखी है। यह तो ऊपर का भभका है। देश में करोड़ों आदमी भूखों मरते हैं और नंगे रह कर जीवन बिताते हैं। शहरियों की भी दशा ठीक नहीं है। अज्ञान इतना फैला हुआ है कि यह देश दुनिया के लगभग सभी देशों से पिछड़ा हुआ है। जिस देश में शिक्षा की इतनी कमी हो वह देश यदि परतन्त्र बन जाय तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ?

भारतवर्ष की दशा अभी कडुवे तस्तूम्बे की वेल के समान है। इसके फल सब कडुवे हैं। अत मातारूपी जड को मीठा बनाने का प्रयत्न कीजिए। अर्थात् जिस प्रकार तस्तूम्बे की जगह मीठे मतीरे (तरबूज) की वेल बन सकती है, इसी प्रकार इन माताओं को मीठे मतीरे की जड़ बनाइए, जिससे देश में सुख-शान्ति का संचार हो सके।

माता रूपी मूल को सुधारने का एक मात्र उपाय है—उन्हें सुशिक्षिता बनाना। यह काम, मेरा खयाल है, पुरुषों की बनिस्बत स्त्रियों में बहुत शीघ्र हो सकता है। उपदेश का असर स्त्रियों पर जितना जल्दी होता है, उतना पुरुषों पर नहीं होता। इस तथ्य की परीक्षा कल भी हो चुकी है। एक स्थानीय बहिन ने चोटी से लेकर एड़ी तक सफेद खादी के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्त्रों को धारण करने का त्याग किया है और साथ ही यह प्रतिज्ञा भी ली है कि एक अंगूठी के सिवाय और कोई जेवर न पहनेगी।

मित्रो ! मारवाड़ प्रान्त में और विशेषतः बीकानेर के वातावरण में इस प्रकार की प्रतिज्ञा धारण करना कितना कठिन है। पर

है। 'भारती' और 'सरस्वती' शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। सरस्वती ब्रह्मा की पत्नी बतलाई जाती है। विद्यालाभ के लिए लोग सरस्वती अर्थात् स्त्री की पूजा करते हैं, फिर कहते हैं कि स्त्री-शिक्षा निषिद्ध है! स्मरण रखिए, जब से पुरुषों ने स्त्रीशिक्षा के विरुद्ध आवाज उठाई है तभी से उनका पतन हुआ है और आज भी उस विरोध के कटुक फल भुगतने पड़ रहे हैं।

मित्रो! क्या अब भी स्त्रीशिक्षा के सम्बन्ध में आपको सन्देह है?

'नहीं महाराज!'

भाइयो! आप लोग आस्तिक हैं, श्रद्धाशील हैं। इस श्रद्धा-शीलता के कारण आप 'जी' और 'तथ्य वचन' कह देते हैं और मेरा कथन अंगीकार कर लेते हैं। पर उस कथन को जीवन में कहाँ उतारते हैं? अच्छी से अच्छी औषधि सेवन किये बिना फलप्रद नहीं होती और सुन्दर से सुन्दर विचार भी जीवन में परिणत किये बिना लाभदायक नहीं हो सकता। मेरे उपदेश की और आपके श्रवण की सार्थकता इसी में है कि उसे आप जीवन में व्यवहृत करें।

आप यूरोप निवासियों को नास्तिक कहते हैं पर वे वचन के पक्के होते हैं। वे जिस कार्य के लिए 'हाँ' भर देते हैं, उसे किये बिना नहीं रहते। ऐसी हालत में उन्हें आस्तिक कहना चाहिए या नास्तिक? और इस दृष्टि से आप किस कोटि में चले जाएँगे, यह भी सोच लीजिए। एक आदमी कहता तो है कि रोटी से भूख मिट जाती है, पर वह खाता नहीं है। दूसरा कहता है—रोटी खाने

से भूख नहीं मिटती, पर वह रोटी खा लेता है अब बतलाइए, किसकी भूख मिटेगी ?

'खाने वाले की !'

तो यही बात आप अपने विषय में सोच लें। आप मेरे उपदेश को मुखसे लाभदायक भले ही कहें, परन्तु यदि उसे काम मे नहीं लाएँगे तो वह लाभदायक कैसे हो सकेगा ?

मित्रो ! बीच में मैं आपको एक बात कहता हूँ। चांद नाम का एक मुसलमान था। उसने अपनी बीबी से कहा—मैं एक भैंस लाऊँगा।

बीबी बोली—बड़ी खुशी की बात है। मैं अपने मायके (पीहर) वालो को भी छाछ भेजा करूँगी।

यह सुनना था कि मियाँ का पारा तेज हो गया। वे बिगड़ते हुए उठे और बीबी को लतियाने लगे।

बीबी बेचारी हैरान थी। उसकी समझ में ही न आया कि मियाँ साहब क्यों खफा हो उठे हैं ? उसने पूछा—मियाँ, आखिर बात क्या है ? क्यों नाहक मुझ पर टूट पड़े हो ?

मियाँ गुस्से से पागल हो गये। बोले राँड कहीं की, भैंस तो लाऊँगा मैं और छाछ भेजेगी मायके वालों को ?

इसके बाद फिर तड़ातड़, फिर तड़ातड़ !

लोग इकट्ठे हुए। उन्हें मियाँ के कोप का कारण मालूम हुआ तो उन्हें भी जब्त न रहा। उन्होंने मियाँ को मारना आरंभ किया। तमाचे पर तमाचे पड़ने लगे।

अशिक्षितों, गरीबों का भाररूप बने, अपनी विलासिता की वृत्ति में वृद्धि करके दूसरों को चूसे। जिस शिक्षा की बदौलत गरीबों के प्रति स्नेह, सहानुभूति और करुणा का भाव जागृत होता है, जिससे देश का कल्याण होता है और विश्वबन्धुता की दिव्य ज्योति अन्तःकरण में जाग उठती है, वही सच्ची शिक्षा है।

भाइयो और बहिनो! आजकल आपकी विलासिता बहुत बढ़ गई है। आपकी विलासिता के कारण आज भारत में छह करोड़ मनुष्य भूखों मर रहे हैं। इन पर जरा दया करो। इन्हें भूखों मरने से बचाओ। आपकी विलासिता के कारण यह कैसे भूखें मर रहे हैं, यह आपको मालूम नहीं पड़ता। याद रखिए, जिस खर्च को आप तुच्छ समझकर कर रहे हैं, वही उनके भूखों मरने और दुःख उठाने का कारण बन जाता है।

मैंने बहुत दिनों पहले कौशलेश्वर और काशीनरेश की बात कही थी। कौशलेश्वर ने काशीनरेश को बहुत कुछ सुधार दिया था। एक दिन वह था जब वे गरीब प्रजा के भक्षक थे, वही प्रजारक्षक बन गये। काशीनरेश की रानी का नाम करुणा था। एक दिन उसे वरुणा नदी में स्नान करने की इच्छा हुई। उसने महाराज से स्नान के लिए जाने की आज्ञा माँगी। महाराज स्त्रियों को कोठरी में बन्द रखने के पक्ष में नहीं थे। वे चाहते थे कि स्त्रियाँ भी सुखपूर्वक प्राकृतिक छटा अवलोकन करें और प्रकृति की पाठशाला से कुछ सीखें। अतएव उन्होंने बिना किसी आनाकानी के महारानी को आज्ञा दे दी।

महारानी अपनी सौ दासियों के साथ, रथ पर सवार होकर नदी पर पहुँची। वरुणा के तट पर गरीबों की झोंपड़ियाँ

बनी हुई थीं। उनमें कुछ मस्त फकीर भी रहते थे। रानी ने तट-निवासियों को कहला भेजा—महारानी स्नान करना चाहती हैं, इसलिए थोड़ी देर के लिए सब लोग अपनी-अपनी झोंपड़ी छोड़कर बाहर चले जाएँ। सब लोगों ने ऐसा ही किया। महारानी अपनी सखियों के साथ वरुणा में किलोल करने लगी। उसने यथेष्ट जलक्रीड़ा की। महारानी जब स्नान करके बाहर निकली तो उसे ठंड लगने लगी। उसने चम्पकवती नामक दासी से कहा—जाओ, सामने के पेड़ों पर से सूखी लकड़ियाँ ले आओ। उन्हें जलाओ। मैं तापूँगी।

चम्पकवती लकड़ियाँ लेने गई किन्तु कोमलता के कारण लकड़ियाँ न तोड़ सकी। वह वापस लौट आई और अपनी कमजोरी प्रकट करके क्षमायाचना करने लगी। महारानी बोली—खैर, जाने दो, मगर तापना जरूरी है। सामने बहुत-सी झोंपड़ियाँ खड़ी हैं। इन में से किसी एक को आग लगा दो। अपना मतलब हल हो जायगा।

चम्पकवती समझदार दासी थी। उसने कहा–महारानीजी, आपकी आज्ञा सिर माथे, परन्तु आप इस विचार को त्याग दीजिए। यह अच्छी बात नहीं है। गरीबों का सत्यानाश हो जायगा! वे गर्मी-सर्दी के मारे मर जाएँगे। उनकी रक्षा करने वाली यह झोंपड़ियाँ ही हैं।

महारानी की त्यौरियाँ चढ़ गईं। बोली—बड़ी दयावती आई है कहीं की! अगर इतनी दया थी तो लकड़ियाँ क्यों न ले आई? अच्छा मदना, तू जा और किसी भी एक झोंपड़ी में आग लगा दे।

मदना दासी गई और उसने महारानी की आज्ञा का पालन किया। झोंपड़ी धाँय-धाँय धधकने लगी। महारानी कुछ

दूरी पर बैठकर तापने लगी। उसकी ठण्ड दूर हुई। शरीर में गर्मी आई। चित्त में शान्ति हुई। फिर महारानी रथ में बैठ कर राज-महल के लिए रवाना हो गई।

महारानी ने एक झौंपड़ी जलाने की आज्ञा दी थी। मगर पास-पास होने के कारण, हवा के प्रताप से एक की आग दूसरी तक पहुँची और इस प्रकार तमाम झौंपड़ियाँ जल कर राख का ढेर बन गईं। लोग अपनी झौंपड़ियों के पास आये, तब उन्होंने वहाँ जो दृश्य देखा तो सन्न रह गये। झौंपड़ियों के स्थान पर राख का ढेर देख कर उनके शोक का पार न रहा। रोने और चिल्लाने लगे। किसी ने कहा—हाय! हमारा सर्वस्व भस्म हो गया। दूसरे ने कहा—हाय! अब हम कहाँ आश्रम लेंगे, गर्मी-सर्दी, पानी से बचने का एक वही ठिकाना था सो छिन गया! अब हमारी क्या गत होगी!

पहले ही कहा जा चुका है कि वहाँ कुछ मस्त फक्कड़ भी रहते थे। उन्होंने रोने-चिल्लाने वालों को ढ़ाढस बँधाया और समझाया—मूर्खो! रोने से झौंपड़ी खड़ी नहीं हो जायगी। हमारे साथ चलो और राजा से फरियाद करो।

लोग राजा से फरियाद करने चले। आगे-आगे बाबाजी और पीछे-पीछे गरीबों की फौज। लोगों ने उन्हें जाते देख पूछा—भाई, आज किधर चढ़ाई करने जाते हो? जब उन्हें कारण बतलाया गया तो उन्होंने बिना माँगी सलाह देते हुए कहा—बावले हो गये हो क्या! महारानी ने झौंपड़ियाँ जला दी तो कौन-सी सोने की लंका जल गई! घास-फूस की कमी तो है नहीं, फिर खड़ी कर लेना। छोटी-सी बात के लिए महाराज के पास पहुँचना क्या भली बात है?

गरीब बेचारे अपढ़। वे लोगों की इन बातों का कुछ भी उत्तर न दे सके। फकीरों ने कहा—जरा सोच-समझ कर बात कही होती तो ठीक था। आज इन गरीबों की झौंपड़ियाँ जलाई गई हैं। कल महारानी तरंग में आकर तुम्हारे महलों में आग लगवा देगी। क्या यह अत्याचार नहीं है? जो आज छोटा अत्याचार कर सकता है, उसे कल बडा अत्याचार करते क्या देर लगेगी? इसके अतिरिक्त इन गरीबो के लिए अपनी झौंपड़ियाँ उतनी ही मूल्यवान् हैं, जितने मूल्यवान आपके लिए अपने महल हैं। इसलिए यह कोई साधारण घटना नहीं है। हम तो कहते हैं कि तुम भी हमारे साथ चलो और जोरदार शब्दों में राजा से इस अत्याचार के विरुद्ध प्रार्थना करो।

बात लोगों की समझ में आ गई। कल हमारे महल ही जलाये जाने लगेंगे! तो हम लोगों को भी इनका साथ देना चाहिए और इस अत्याचार को अन्तिम बना देना चाहिए।

इस प्रकार लोगों का एक बड़ा भारी झुण्ड राजमहल के चौक मे जा खड़ा हुआ। महाराज ने जनता का कोलाहल सुन-कर महल के झरोखे में से बाहर की ओर झाँका तो बड़ी-सी भीड़ दिखाई दी। उन्होंने पूछा—तुम लोग क्यो इकट्ठे होकर आये हो?

प्रजा—महाराज, गरीबों का सत्यानाश हो गया। अब यह बेचारे किस प्रकार अपने गर्मी-सर्दी के दिन बिताएँगे!

राजा—क्यों? क्या हुआ?

प्रजा—अन्नदाता, महारानीजी स्नान करने गई थीं। उन्हें ठण्ड लगी। तापने के लिए उन्होंने एक झौंपड़ी में आग लगवाई

राजा ने गम्भीर होकर कहा—अच्छा, अपने हाथों से मजदूरी करो। उसीसे अपना पेट पालो। जो कुछ बचत कर सको उससे झौंपड़ियाँ बनवा दो। जब झौंपड़ियाँ तैयार हो जाएँ तब महल में पाँव धरना।

महाराज का न्याय सुन कर प्रजा सन्न रह गई। उसने इस फैसले की कल्पना भी नहीं की थी। लोगों ने चिल्ला कर कहा—अन्नदाता, हमारा न्याय हो चुका। अब हमारा कोई दावा नहीं है। कृपा कर महारानीजी को इतना कड़ा दण्ड न दीजिए।

महारानी बोली—महाराज, आप लोगों की बातों में न आइए। आपका न्याय अमर हो। आपका न्याय उचित है। अब इसे न लौटाइए। मैं प्रसन्न हूँ।

प्रजा—नहीं महाराज, हम अपनी महारानीजी को ऐसा दंड नहीं दिलवाना चाहते! अब हम कुछ भी नहीं चाहते। हमारी फरियाद वापस लौटा दीजिए।

महाराज—प्रजा-जनो! तुम्हारी भक्ति की मैं कद्र करता हूँ, पर न्याय के समक्ष मैं विवश हूँ। महारानी भी यही चाहती हैं।

महारानी—अन्नदाता, आज का दिन बड़े सौभाग्य का दिन है। आज मैं अपने पति पर गर्व कर सकती हूँ। आपने न्याय की रक्षा की है। अब मुझे आज्ञा दीजिए। मैं जाती हूँ।

महारानी ने अपने बहुमूल्य आभूषण और वस्त्र उतार दिये। साधारण पोशाक पहन कर वह महल से विदा होने लगी।

राजघराने की स्त्रियाँ और प्रजा की स्त्रियाँ उन्हें रोकने लगीं। पर रानी ने किसी की न सुनी। रानी ने कहा—बहिनो,

मुझे रोको मत। अगर तुम्हारी मेरे साथ सहानुभूति है तो तुम भी मजदूरी करो। मेरी सहायता करो। मैंने भीषण अत्याचार किया है। उसके फल से मुँह मोड़ना अच्छा नहीं है। यह अक्षम्य अपराध है।

स्त्रियों ने कहा—मगर आपका कष्ट हमसे नहीं देखा जाता।

महारानी—कष्ट ? कष्ट कैसा ! क्या सीता और द्रौपदी ने कष्ट नहीं झेले ? आज उनका नाम-स्मरण आते ही श्रद्धा-भक्ति से मस्तक क्यों झुक जाता है ? अगर धर्म और न्याय के लिए उन्होंने कष्ट न उठाये होते और राजमहल में रह कर भोगविलास का जीवन विताया होता तो कौन उन्हे याद करता ? मैं चक्की चलाऊँगी, चर्खा कातूँगी, और अपने अपराध का प्रायश्चित्त करूँगी।

भाइयो और बहनो ! आपने महारानी करुणा की बात सुनी। उसके जरा से विलास की बदौलत लोगों को कितना कष्ट हुआ ?

आप कलकत्ता जाते हैं और सोना खरीद लाते हैं। बहनें उनकी बँगड़ियाँ बना कर पहनती और अभिमान करती हैं। पर कभी उन्होंने यह भी सोचा है कि यह बँगडियाँ कितने गरीबों के सत्यानाश से बन कर तैयार हुई हैं ? हाय ! हाय ! और तो क्या कहूँ, आपने जो कपड़े पहने हैं इन्हें देखो। इन में चर्बी लगी है। न जाने कितने पशुओं को पील कर, उनका क्रूरता-पूर्वक कत्ल करके वह चर्बी निकाली गई होगी। क्या आपका हृदय इतना कठोर है कि गरीबों और मूक पशुओं की इस दुर्दशा को देखकर भी नहीं पिघलता ?

भारत की कंगाली का, उसकी दीनता-हीनता और दुर्दशा का प्रधान कारण विलासिता की वृद्धि है। अगर आप देश की लाज रखना चाहते हैं, देश को सुखी बनाना चाहते हैं, तो गरीबों को चूसना छोड़ो और चर्बी लगे हुए वस्त्रों से मुँह मोड़ो।

खादी शुद्ध वस्त्र है। इसमें चर्बी का उपयोग नहीं होता। इसीसे काम चलाना बुरा नहीं है, यही गरीबो की रक्षक है।

हेमचन्द्राचार्य जब सांभर गये तब उन्हें धन्ना नामक सेठ की स्त्री ने हाथ की कती और हाथ की बुनी खादी भेंट की। वह बहुत प्रसन्न हुए और उसे पहना। जब राजा कुमारपाल, जो आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य था, दर्शन करने आया तब उसने आचार्य को खादी पहने देखकर कहा—महाराज, आप हमारे गुरु हैं। आपको यह मोटी और खुरदरी खादी पहने देखकर मुझे लज्जा आती है। हेमचन्द्रार्य बोले–'भाई' तुम्हें खादी पहने देखकर लज्जा नहीं आनी चाहिए। लज्जा तो भूख के मारे मरने वाले गरीब भाइयो को देख कर आनी चाहिए।

हेमचन्द्राचार्य के इन शब्दों ने राजा कुमारपाल पर अद्भुत प्रभाव डाला। वह स्वय खादी–भक्त बन गया। उसने चौदह वर्ष तक प्रति वर्ष एक करोड़ रुपया गरीबों की स्थिति सुधारने मे व्यय किया।

मित्रो! सोचिये, खादी ने क्या कर दिखाया। कितने गरीबों की रक्षा की? आप खादी से क्यों डरते हैं? ,क्या राज की तरफ से आप को रोक टोक है? दीवान साहब! क्या खादी पहनना आपके राज्य मे निषिद्ध है?

मित्रो ! दीवान साहब कहते हैं—खादी पहनना निषिद्ध नहीं, आप खादी से भयभीत क्यों होते हैं ?

खादी के अतिरिक्त अन्य विलासवर्धक वस्त्रों को पहनना या अन्य कार्य में लाना गरीबों की झोंपड़ियों में आग लगाने के समान है। आपने गरीबो की झोंपड़ियों में बहुत आग लगाई है, अब करुणा करके, रानी की तरह मजूर बनकर प्रायश्चित्त कर डालिए।

मजूर बनने में कुछ कष्ट तो जरूर है, पर कष्ट झेलने में ही मर्दानगी है। आज आप लोग सीता और राम को क्यो याद करते हैं ? कष्ट भोगने के कारण ही। अगर वे राजमहलो में बैठ कर आनन्द भोगते तो उन्हें कौन पूछता ? इस धरातल पर न जाने कितने राजा, महाराजा, सम्राट् आदि हो चुके है। पर आज लोग उनका नाम भी नहीं जानते।

इस प्रकार आप अपने मूल को सुधारने का प्रयत्न कीजिए। मूल का सुधार होने पर तना, शाखाएँ, फल आदि स्वयं सुधर जाएँगे। मूल को सुधारने का सर्वश्रेष्ठ उपाय शिक्षा का प्रचार है। स्त्रीशिक्षा के संबंध में मुझे बहुत-सी बाते कहनी थीं, पर अब समय हो चुका है। आप दीवान साहब के सरस्वती-कुल को देखिए। इनके घर में नौ महिलाएँ ग्रेज्युएट हैं। याद रखना, जहाँ सरस्वती होती है, वही समाज, वही देश और वही कुल सुख और शान्ति का केन्द्र बनता है।

भीनासर
२६—६—२७

उदार अहिंसा

प्रार्थना
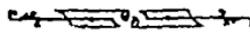
श्री जिन अजित नमो जयकारी, तू देवन को देवजी।
जितशत्रु राजा ने विजया, राणी को, आतमजात त्वमेव जी।
श्री जिन अजित नमो जयकारी ॥

निरारंभ और निष्परिग्रह रहना साधु का धर्म है, अल्पारंभी और अल्पपरिग्रही बनना श्रावक—गृहस्थ—का धर्म है तथा महारम्भी और महापरिग्रही बनना मिथ्यात्वी का काम है।

यहाँ यह विचार करना आवश्यक है, कि गृहस्थ अल्पारंभी अल्पपरिग्रही किस प्रकार बन सकता है।

श्रावक स्थूल प्राणातिपात का त्यागी होता है। अतएव यह विचार कर लेना उपयोगी होगा कि यहाँ 'स्थूल' का क्या अर्थ है? स्थूल शब्द सूक्ष्म की अपेक्षा रखता है और 'सूक्ष्म' स्थूल की अपेक्षा रखता है। यदि 'सूक्ष्म' न होता तो स्थूल का होना संभव नहीं था। तो यहाँ स्थूल शब्द से क्या ग्रहण किया गया है?

यहाँ स्थूल शब्द का प्रयोग द्वीन्द्रिय से लेकर जितने जीव आबाल-वृद्ध सभी को सरलता से आँखों द्वारा दिखाई देते हैं, उनके लिए किया गया है। ऐसे जीवों से भिन्न-आँखों से न दिखाई देने वाले जीव, चाहे वे द्वीन्द्रिय आदि ही क्यों न हों, यहाँ सूक्ष्म कहलाएँगे।

मोटी बुद्धि वालों को यह बात एकाएक समझना कठिन होगा, पर विचारशील व्यक्ति इसे जल्दी समझ सकेंगे।

शास्त्रकार ने एकेन्द्रिय जीव की हिंसा को हिंसा माना है पर उसका पाप पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा के बराबर नहीं माना।

जैन समाज में आज हिंसा-अहिंसा के विषय में बहुत भ्रम फैला हुआ है। बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने 'दया करो' का अर्थ समझ रक्खा है—सिर्फ छोटे-छोटे जीवों की दया करो। उन्होंने मानवदया प्रायः भुला दी है। एक बलाय ऐसी खड़ी हो गई है जिसकी समझ में चिउंटी की और मनुष्य की हिंसा का पाप एक ही समान है। शायद उन्होंने कंकर चुराने वाले को और जवाहरात चुराने वाले को भी समान ही समझ रक्खा होगा।

जैन समाज ने एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा के लिए जब से मनुष्यदया भुलाई है, तभी से इसका पतन आरंभ हुआ है।

हिन्दू शास्त्र भी किसी जीव को न मारने का विधान करता है, परन्तु जैन शास्त्रों में इसका बहुत अच्छा, स्पष्ट और बारीक विवेचन किया गया है। जैन शास्त्रों में हिंसा के दो भेद किये हैं—एक संकल्पजा हिंसा और दूसरी आरम्भजा हिंसा।

"सङ्कल्पाज्जाता सङ्कल्पजा। मनसः सङ्कल्पाद् द्वीन्द्रियादिप्राणिनः मांसास्थिचर्मनखदन्ताद्यर्थं व्यापादयतो भवति।

मित्रो ! इस परम्परा मे एक रहस्य है। जिस दावे को पूरा करने के लिए राजा आक्रमण करता है, उसे कदाचित् वह राजा जिस पर आक्रमण करता है, विना युद्ध किये ही स्वीकार कर ले। ऐसी अवस्था में वह युद्ध निरपराधी सैनिको की हिंसा का कारण होगा और अनावश्यक भी होगा। इस प्रकार निरपराध जीवो की हिंसा से बचने के लिए ही युद्ध से पहले दूसरे राजा के सामने मॉग स्वीकार नहीं करता था तो उसे अपराधी समझ कर वह आक्रमण कर देता था।

इससे यह विदित हो जाता है कि श्रावक अपराधी जीवों की हिंसा का एकान्ततः त्यागी नहीं होता।

अहिंसा कायर बनाती है या कायरो का शस्त्र है, यह बात वही कह सकता है जिसने अहिंसा का स्वरूप और सामर्थ्य नहीं समझ पाया है। इससे विपरीत सत्य तो यह है कि अहिंसा का व्रत वीरशिरोमणि ही धारण कर सकते हैं। जो कायर हैं वह अहिंसा को लजावेगा। वह अहिंसक बन नहीं सकता। कायर अपनी कायरता को छिपाने के लिए अहिंसक होने का ढोंग रच सकता है, वह अपने आपको अहिंसक कहे तो कौन उसकी जीभ पकड़ सकता है, पर वास्तव में वह सच्चा अहिंसक नहीं है। यों तो सच्चा अहिंसावादी एक चिउँटी के भी व्यर्थ प्राण हरण करने में थर्रा उठेगा, क्योंकि वह संकल्पजा हिंसा है वह इसे महान् पातक समझता है। पर जब नीति या धर्म खतरे में होगा, न्याय का तकाजा होगा, और संग्राम में कूदना अनिवार्य हो जायगा तब वह हजारो मनुष्यों के सिर उतार लेने में भी किंचिन्मात्र खेद प्रकट न करेगा। हाँ, वह इस बात का अवश्य पूर्ण ध्यान

रक्खेगा कि संग्राम मेरी ओर से संकल्परूप न हो, वरन् आरम्भ रूप है ,

संकल्पजा हिंसा करने वाले को पातकी के नाम से पुकारा जाता है, पर आरम्भजा हिंसा करने वाला श्रावक इस नाम से नहीं पुकारा जाता।

मित्रो ! इस संक्षिप्त विवेचन से आप समझ गये होंगे कि जैनों की अहिंसा इतनी संकुचित नहीं है कि वह संसार के कार्य में बाधक हो और सांसारिक कार्य करने वालों को उसका परित्याग करना पड़े। वह इतनी व्यापक और विशाल है कि बड़े-बड़े सम्राटों, राजाओं और महाराजाओं ने उसे धारण किया है, पालन किया है और आज भी वे उसका धारण-पालन कर सकते हैं। उनके लोकव्यवहार में किसी प्रकार की रुकावट खड़ी नहीं होती। जैन अहिंसा अगर राजकाज में बाधक होती तो प्राचीन काल के राजा महाराजा उसका पालन किस प्रकार करते ?

एक पादरी की लिखी हुई पुस्तक में मैंने पढ़ा था कि हिन्दू लोगों की अपेक्षा हम पादरी लोग अधिक अहिंसक हैं। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार गेहूँ आदि पदार्थों में जीव हैं। हिन्दू लोग गेहूँ आदि को पीस कर खाते हैं। ऐसा करने में कितनी हिंसा होती है ? एक बात और भी है। जब गेहूँ आदि की खेती की जाती है तब भी पानी के, पृथ्वी के और न जाने कौन-कौन से हजारों जीवों की हत्या होती है। वे इतनी अधिक हिंसा करने के पश्चात् पेट भरने में समर्थ हो पाते हैं। फिर भी हिन्दू लोग अपने आपको अहिंसक मानते हैं।

हम पादरी लोग सिर्फ एक बकरे को मारते हैं और उसीसे अनेक आदमियों का पेट भर जाता है। इससे हम बहुत कम हिंसा करते हैं !

मित्रो ! यह पादरी भोले-भाले लोगों की आँख में धूल झौंकने का प्रयास कर रहा है। वह इस युक्ति से हिन्दुओं के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न करवाना चाहता है। वह समझता है, यह तर्क सुनकर बहुत से लोग ईशु की शरण में आजाएँगे। मगर यह पादरी भाई भारी भ्रम में है। उसे समझ लेना होगा कि वह जो दलील पेश करता है, सच्चे अहिंसावादी के सामने पल भर भी नहीं ठहर सकती।

जरा विचार कीजिए, बकरा क्या आसमान से टपक पड़ा है ? उसका जन्म किसी बकरी के गर्भ से हुआ है। उस बकरी ने कितना चारा खाया होगा और कितना पानी पिया होगा, जिससे गर्भ का पोषण हुआ ? तथा जन्म लेने के बाद बकरे ने कितना घास खाया और कितना पानी पिया है, जिससे उसका शरीर पुष्ट हुआ है ? इसका हिसाब लगाना अत्यावश्यक है। बकरे की हिंसा और धान पैदा करने की हिंसा की इस आधार पर तुलना की जाय, तो मालूम होगा कि हिंसा किसमें ज्यादा है ?

इस संबंध में एक बड़ी बात और भी है। क्या धान आदि द्वारा पेट भरने वाला इतना क्रूर स्वभाव का हो सकता है जितना बकरे का मांस खाने वाला हो सकता है ? यदि नहीं तो मांस खाने वाले के गुणों और धान्य खाने वाले के अवगुणों के गीत क्यों गाये जाते हैं ?

ऊपर-ऊपर के विचार से तो हमने पादरी को दोषी ठहरा दिया और यह भी कह दिया कि वह अपनी झूठी सफाई देकर लोगों को धोखा देता है। परन्तु आपने कभी अपने संबंध में भी सोचा है ? मित्रो ! आप लोग भी ऊपर-ऊपर से विचार करते हैं और गहरे पैठ कर विचार करने की क्षमता प्राप्त नहीं करते। आप विचार कीजिए, एक चमार को, जो मरे हुए बकरों की चमड़ी उतार कर जूता, चरस, पखाल आदि बनाता है, आप नीच समझते हैं और उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। पर आप ही कई सेठ कहलाने वाले भाई अपने मिलों मे उपयोग करने के लिए सैकड़ों नहीं, हजारो भी नहीं, वरन लाखों मन चर्बी काम में लाते हैं। यह कितने परिताप की बात है ? जब बेचारा चमार आपकी दूकान पर आता है तो आप लाल-लाल आखें दिखा कर उसे डाट-फटकार दिखलाते हैं पर जब चर्बी वाले सेठजी आते हैं तो उन्हें उच्च आसन पर बैठने के लिए आग्रह करते हैं। यह सब क्या है ? क्या यह आपका सच्चा इंसाफ है ? नहीं मित्रो ! यह घोर पक्षपात है और महापाप के बंध का कारण है ?

मैं पहले कह चुका हूँ कि श्रावक संकल्पजा हिंसा का त्यागी हो सकता है किन्तु आरम्भजा हिंसा का नहीं। संकल्पजा हिंसा से पहले आरम्भजा हिंसा के त्याग करने का प्रयत्न करना मूर्खता है, क्योंकि उसका इस प्रकार त्याग होना संभव नहीं है। क्रम से काम होना श्रेयस्कर होता है।

कई बहिन चर्खा चलाने का त्याग करती हैं पर आपस में

... और गाली-गलौज करने में तनिक भी नहीं हिच-

... इधर की रहती हैं, न उधर की रहती हैं। वे स्वयं नहीं

अगर साधु का वेष धारण करने वाले किसी व्यक्ति में समदर्शीपन न हो तो उसे कोई साधु कहेगा? बीकानेर–नरेश अपने राज्य में ब्राह्मण या चाण्डाल में समान न्याय का आचरण न करें तो उन्हे कोई आदर्श राजा कहेगा?

'नहीं!'

और भी देखिए। डाक्टर का काम चिकित्सा करना है। किसी की भयंकर बीमारी में अगर मल-मूत्र की परीक्षा करना आवश्यक हो और वह घृणा लाये तो क्या वह डाक्टर कहलाने योग्य है?

'नहीं!'

आप लोगों ने सब प्रश्नो का सही उत्तर दे दिया। अब यह बतलाइये कि जो पुरुष या स्त्री-समाज के साथ समभाव का व्यवहार न करे उसे क्या कहना चाहिए?

आप जिस समाज में रहते हैं, उस समाज के प्रत्येक व्यक्ति के साथ समभाव का व्यवहार नहीं करते तो उस समाज के प्रति अत्याचार करते हैं। इसलिए इस प्रश्न का उत्तर देने में भी हिचकिचाते हैं।

मित्रो! स्त्री, पुरुष का आधा अङ्ग है। क्या यह संभव है कि किसी का आधा अङ्ग बलिष्ट और आधा अङ्ग निर्बल हो? जिसका आधा अंग निर्बल होगा उसका पूरा अंग निर्बल होगा। ऐसी स्थिति में आप पुरुष-समाज की उन्नति के लिए जितने उद्योग करते हैं वे सब असफल ही रहेंगे, अगर पहले आपने महिला-समूह की स्थिति सुधारने का प्रयत्न न किया। आप

आप अंग्रेज सरकार से स्वराज्य की माँग करते हैं किन्तु पहले अपने घर में तो स्वराज्य स्थापित कर स्त्रियों के साथ समता और उदारता का व्यवहार करो। आप स्त्रियों के प्रति समभाव न रख कर, उन्हें गुलाम बनाकर स्वराज्य की माँग किस मुँह से करते हैं ?

यह स्त्रियाँ जग-जननी का अवतार हैं। इन्हीं की कूंख से महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण आदि उत्पन्न हुए हैं। पुरुष-समाज पर स्त्री-समाज का बड़ा भारी उपकार है। उस उपकार को भूल जाना, उनके प्रति अत्याचार करने में लज्जित न होना घोर कृतघ्नता है।

मैं समभाव का व्यवहार करने के लिए कहता हूँ। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि स्त्रियों को पुरुषों के अधिकार दे दिये जाएँ। मेरा आशय यह है कि स्त्रियों को स्त्रियों के अधिकार देने में कृपणता न की जाय। नर और नारी में प्रकृति ने जो विभेद कर दिया है, उसे मिटाया नहीं जा सकता। अतएव उनके कर्त्तव्यों में भी भेद रहेगा ही। कर्त्तव्य के अनुसार अधिकारों में भी भेद भले ही रहे मगर जिस कर्त्तव्य के साथ जिस अधिकार की आवश्यकता है वह उन्हें सौंपे बिना वे अपने कर्त्तव्य का पूरी तरह निर्वाह नहीं कर सकतीं।

यहाँ एक बात बहिनों से भी कह देना आवश्यक है। पुरुष आपको आपके अधिकार दे देंगे तो बिना शिक्षा पाये आप उन्हें निभा न सकेंगी। अतएव आपका शिक्षित होना जरूरी है। ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मीदेवी ने ही भारतवर्ष में शिक्षा का प्रचार किया था। आपको इस बात का अभिमान होना चाहिए कि

बोलिए, बोलिए, घबराते क्यों हैं ? क्या उस समय बराबरी का आसन देकर नहीं बैठे थे ?

'बैठे थे !'

तो अब क्यों पीछे फिरते हो ? क्या आपका उद्देश्य पूर्ण हो गया इसीलिए ?

आज तो आपने विवाह-सम्बन्ध मे भी बड़ी गड़बड़ी पैदा कर दी है। जैन-शास्त्र दम्पती के लिए 'सरिसवया' विशेषण लगा कर पति-पत्नी की उम्र-सम्बन्धी योग्यता का उल्लेख करता है। पर देखते हैं कि आज साठ वर्ष का बूढ़ा डोकरा बारह वर्ष की लड़की का पाणिग्रहण करते नहीं लजाता ! आप अपने अन्त.करण से पूछिए— क्या यह जोड़ा है ? आपके दिल की न्याय-परायणता और करुणा कहाँ चली गई है ? किस शास्त्र के आधार पर आप ऐसे कृत्य करते हैं ? आपके शास्त्र में 'असरिसवया' (विसदृश उम्र वाले) का पाठ आया होगा !

प्रधानमन्त्रीजी ! क्या पुरुष-समाज के यह कृत्य शोभाजनक हैं ?

प्रधानमन्त्री (सर मनु भाई मेहता)—जी नहीं।

प्रधानमन्त्रीजी ! लोग न मेरी बात मानते हैं और न शास्त्र की बात पर ध्यान देते हैं। इसका उपाय अब आप ही कर सकते हैं !

भाइयो ! आपके प्रति मेरे हृदय में लेश-मात्र भी द्वेष नहीं है। द्वेष होता तो आपके हित की बात ही क्यों करता। इसके

विरुद्ध समाज की अवस्था देखकर मुझे करुणा आती है। उसीसे प्रेरित होकर मैं आपकी बात दीवान साहब से कहता हूँ।

श्रावक—आपने महान् उपकार किया!

आपकी आँख में थोड़ी-सी खराबी हो जाती है तो आप डाक्टर को बुलाते हैं। उसे फीस भी देते हैं और उसका उपकार भी मानते हैं। पर आप मूल को भूल जाते है। थोड़ा-सा उपकार करने वाले का आप इतना मान-सम्मान करें और मूल वस्तु बनाने वाली प्रकृति की कुछ भी पर्वा न करें, यह कितनी बुरी बात है? अगर आप प्रकृति के नियमों को मानपूर्वक पालन करेंगे तो आपको किसी प्रकार का कष्ट न होगा और सर्वत्र शांति का संचार होगा।

मित्रो! मैंने आपसे स्त्री-शिक्षा और स्त्री-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध मे कहा है। इसका मतलब आप कुशिक्षा या स्वच्छन्दता न समझें जिससे जातीय-जीवन नष्ट-भ्रष्ट और कलंकित होता है। आप उन्हे प्राकृतिक नियम के अनुसार शिक्षित बनाकर स्वतन्त्र बनावें। अगर आप ऐसा न करें तो समझ लीजिए कि आप प्रकृति के नियमो की अवहेलना करते हैं। प्रकृति की अवहेलना करने वालों का गौरवपूर्ण अस्तित्व रहना बहुत कठिन है।

बहुत से भाई प्राकृतिक नियमों से बिलकुल अनभिज्ञ हैं। वे परम्परागत रूढ़ि को ही प्राकृतिक नियम मान रहे है, जैसे घूंघट। घूंघट कोई प्राकृतिक नियम नहीं है और न अनादि काल से चली आई प्रथा है। भारतवर्ष मे एक समय ऐसा आया था जब स्त्रियो के लिए घूंघट निकालना अनिवार्य हो गया था। इस

दिया गया ? अरी भोली ! तू राजा के जाल को नहीं समझ सकती। वास्तव में वे तुझे तनिक भी नहीं चाहते। अगर ऐसा न होता तो इतना छल-कपट क्यों करते ?

दुष्टों के संसर्ग से क्या-क्या अनर्थ नहीं होते ? कैकेयी के हृदय पर मन्थरा के वचनों का असर हो गया।

मंत्रियों को आवश्यक सूचना देकर जिस समय राजा दशरथ सर्व-प्रथम कैकेयी के महल में गये, सहसा कैकेयी का विकराल रूप देखकर सहम उठे। जो रानी मेरे लिये सदा सिंगार किये करती थी, महल के द्वार पर पैर धरते ही मुस्कराती हुई सामने आ जाती थी और हाथ पकड़ कर मुझे भीतर ले जाती थी, आज उसने यह विकराल रूप क्यों धारण किया है ? आज वह आँख उठाकर भी मेरी ओर नहीं देखती। केश बिखरे हुए हैं। कपड़े मैले-कुचैले और अस्तव्यस्त हैं। मुँह उतरा हुआ, होठों पर पपड़ी जमी हुई और नाक से दीर्घश्वास ! यह सब क्या मामला है ?

राजा ने डरते-डरते उसके शरीर को हाथ लगा कर पूछा-प्रिये ! आज तुम नाराज़ क्यों हो ? तुम्हारी यह हालत क्यों है ? मैं राम की शपथ पूर्वक कहता हूँ—'जो तुम चाहोगी, वही होगा।'

अब तक कैकेयी चुप थी। 'राम' शब्द राजा के मुँह से सुनते ही सर्पिणी-सी फुंकार कर बोली—मैं और कुछ नहीं चाहती। आपने पहले दो वचन माँगने को कहे थे, आज उन्हें पूरा कर दीजिए।

दशरथ—अवश्य, बोलो क्या चाहती हो ?

कैकेयी—पहले अच्छी तरह सोच लीजिए, फिर हाँ भरिये।

दशरथ—प्रिये। सोच लिया है। माँगो।

कैकेयी—फिर नाहीं तो न की जायगी?

दशरथ—वचन देकर मुकर जाना रघुकुल की मर्यादा के विरुद्ध है। तुम निर्भय होकर माँगो।

कैकेयी—अच्छा तो सुनिये। कल प्रातःकाल होते ही भरत कोराजसिंहासन पर आरूढ़ कीजिए।

कैकेयी के हृदयवेधक शब्द सुनते ही दशरथ मूर्छित हो गये। भाइयो! बहिनो! जो कैकेयी दशरथ को प्राणों से अधिक प्यार करती थी और राम को भरत से ज्यादा चाहती थी, उसीने आज दुष्ट-शिक्षा के कारण कैसा भयानक दृश्य उपस्थित कर दिया!

प्रातःकाल, अरुणोदय के समय, राम माता कैकेयी के महल में दर्शन करने जाते हैं। वहाँ कुहराम मचा हुआ देख नम्रतापूर्वक पूछते हैं—माताजी! आज आप उदास क्यों दीख पड़ती हैं? पिताजी बेभान-से क्यों पड़े हुए हैं?

कैकेयी चुपचाप बैठी रही। उसके मुंह से कुछ नहीं निकला!

रामचन्द्र फिर बोले—माताजी, बोलिए। आज तो आप बोलती भी नहीं।

कैकेयी—राम, तुम बडे मीठे हो। जान पड़ता है, बाप-बेटे ने एक ही शाला मे शिक्षा पाई है। पर तुम्हारी चापलूसी की बातों मे अब मै नहीं आने की!

राम—माताजी, क्षमा कीजिए। मेरी समझ में कुछ नहीं आया। कृपा कर मुझे साफ-साफ सुनाइए।

कैकेयी—समझे नहीं ? समझना यही है कि तुम राजाजी के पुत्र हो और भरत नहीं। कौशल्या राजाजी की रानी हैं, मैं नहीं। मैं तो दासी के सदृश हूँ। अगर भेदभाव न होता तो मेरे भरत को राज्य क्यों नहीं मिलता ? मैंने तुम्हारे पिताजी से भरत के लिए राज्य माँगा, बस वे नाराज हो गये।

राम—विशाल हृदय राम—कैकेयी की कठोर बात सुन कर कहते हैं—माताजी ! आप ठीक कहती है। भरत को अवश्य राज्य मिलना चाहिए। इसमें बुरा क्या कहा ? मै आपका अनुमोदन करता हूँ। भरत मेरा भाई है। आपने किसी पराये के लिए थोड़ा ही राज्य माँगा है !

राम वनवास के लिए तैयार हो गये। उन्होंने राज्य तिनके की तरह त्याग दिया। उसी निस्पृहता के कारण शान्ति के दूत राम को लोग पुरुषोत्तम और ईश्वर कहते हैं। सच है, प्रकृति का विजय करने वाला ही महापुरुष कहलाता है।

राम के वनवास की खबर जब सीता को हुई तो वह पुलकित हो उठी। उसने सोचा—मैं कितनी भाग्यशालिनी हूँ। मुझे सेवा करने का कैसा अच्छा अवसर मिला है ! गृहवास में दास-दासियों की भीड़ के कारण पतिसेवा का पूरा सौभाग्य प्राप्त न होता था, वन-वास करने से यह सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा।

बहिनो ! सीता के त्याग की तरफ ध्यान दीजिए। वह आज की नारी नहीं थी कि सुख में राजी-राजी बोले और विपदा पड़ने पर मुंह मोड़ ले। इसीलिए कहते हैं—राम में जो शक्ति थी वह सीता की शक्ति थी।

भगवती सीता ने कभी कष्ट का अनुभव न किया था। वह चाहती तो अपने मायके चली जा सकती थी या अयोध्या मे ही रह सकती थीं। उनके लिए कहीं भी किसी वस्तु की कमी नहीं थी। पर नहीं, सीता को त्याग का आदर्श खड़ा करना था, जिसके सहारे स्त्री समाज त्यागभावना और पतिपरायणता का पाठ सीख सके।

राम और सीता को वन जाते देख वीर लक्ष्मण भी तैयार हो गये। उनकी माता सुमित्रा ने उन्हें उपदेश देते हुए कहा—"जाओ बेटा, राम को दशरथ के समान समझना, जानकी को मेरी जगह मानना, वन को वन, नहीं अयोध्या मानना, जाओ पुत्र! तुम्हारा कल्याण हो।"

अहा! इन रानियों की तारीफ किस प्रकार की जाय! आज की माताएँ अपने पुत्रों को कैसी नीच शिक्षा देती हैं? बहिनो! इन रानियों के उदार चरित का अनुकरण करो, तुम्हारा घर स्वर्ग बन जायगा।

राम, लक्ष्मण और सीता ने वन की ओर प्रस्थान कर दिया। दशरथ का देहान्त हो गया। जब भरत की फटकार मिली तब कैकेयी की बुद्धि ठिकाने आई। वह पछताने लगी—हाय! मैंने यह क्या कर डाला! मैंने अपनी सोने की अयोध्या को श्मशानभूमि बना दिया और प्यारे राम को वनवास दिया! आह! कितना गजब हो गया! हाय! मैं राम को कैसे मुँह दिखला सकूँगी। ओ मेरे राम, क्या तुम मुझे क्षमा कर दोगे? मैं किस मुँह से राम को 'मेरे राम' कह सकती हूँ? जिसे पराया मानकर मैंने वनवास के लिए भेज दिया उसे अपना मानने का

मुझे क्या अधिकार रहा? राम! राम! ओ राम! क्या तुम इस दुर्घटना को भूल सकोगे? क्या तुम फिर मुझे माता कह कर पुकारोगे? हाय! मैं दुष्टा हूँ। मैं पापिनी हूँ। मैं पति और पुत्र की द्रोहिनी हूँ। मैंने निष्कलंक सूर्यवंश को कलंकित किया! मेरे प्यारे राम! इस अभागिनी माता की निष्ठुरता को भूल जाना! भरत भी मुझे 'माँ' नहीं कहता तो राम मुझे कैसे माता मानेगा? मैंने उसके लिये क्या कसर छोड़ी है? फिर भी राम मेरा विनीत बेटा है। वह अपनी माता को माफ़ कर देगा।

इस प्रकार अपने आपको धिक्कार कर कैकेयी ने भरत से कहा—'मुझे रामचन्द्र से मिला दो। मैं भूली हुई थी। मैंने घोर पाप किया है। मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी। राम को देखे बिना मेरा जीवन कठिन हो जायगा। अगर तुमने राम से मुझे न मिलाया तो मैं प्राण त्याग दूंगी।

पहले तो भरत ने साफ इन्कार कर दिया, पर बाद में यह जान कर कि माता का अहंकार चूर-चूर हो गया है और वह सच्चे हृदय से पश्चात्ताप कर रही है, रामचन्द्र के पास ले जाना स्वीकार किया।

भरत चित्रकूट पहुँचे। कैकेयी मारे लज्जा के राम के सामने न जा सकी। वह एक वृक्ष की आड़ में खड़ी हो गई। उसकी दोनों आँखों से आँसुओं की धारा प्रवाहित हो रही थी। वह मन ही मन सोचने लगी—बेटा राम! क्या अब मेरा अपराध क्षमा नहीं किया जा सकता? क्या तुम मेरा मुंह भी देखना पसन्द न करोगे? मैं तुम से मिलने आई हूँ, पर सामने आने का साहस नहीं होता। राम! क्या इस अपराधिनी माता को दर्शन

न दोगे ? मैं जानती हूँ, कि हाय ! मैंने अपनी लाडली बहू जानकी को अपने हाथ से छाल के वस्त्र पहना कर वन की ओर रवाना किया है इससे बढ़कर निठुरता और कोई क्या कर सकता है ?

रामचन्द्र माता कैकेयी का विलाप सुन कर घूमते-घूमते उसके पास जा खड़े हुए और 'वंदे मातरम्' कह उसके पैरों में गिर पड़े। कैकेयी चौंक उठी। दुःख, पश्चात्ताप और लज्जा के त्रिविध भावों से उसका हृदय जलने लगा। प्रेम के आँसू बहाती हुई कैकेयी ने कहा—

मैं नहीं जानती थी तुम को, तुम ऐसे हो तुम इतने हो ।
उसका पासंग भी नहीं हूँ मैं, गंभीर कि तुम जितने हो ॥

कौशल्या, तेरा राम नहीं, यह राम तो मेरा बेटा है ।
मेरा यह धन है जीवन है, मेरा यह प्राण कलेजा है ॥

मंथरा रांड की संगति से, हा ! मैंने वृथा उत्पाद किया ।
अपने ही हाथों अपने बेटे पर वज्राघात किया ॥

अब दुनिया की बहिनो सीखो, नीचों को मुंह न लगाना तुम ।
अब बहू-बेटियो ! ऐसों की, संगति में मत फँस जाना तुम ॥

जो दुष्टा दासी हैं वे स्वांग नित नया भरती हैं ।
बरबाद घरों को बहुओं को, नाना प्रकार से करती हैं ॥

हो मुझसे घृणा तुम्हें तो मेरे जीवन से शिक्षा लो तुम ।
दुष्ट अनुचरी सहचरी को, घर में भी मत घुसने दो तुम ॥

राम रूपी प्रचण्ड सूर्य के तेज से कैकेयी के हृदय में आये हुए दुष्ट विचार रूपी गंदला जल सूख गया। कैकेयी का कलुषित हृदय पिघल कर आँखों के रास्ते बह गया। कैकेयी के
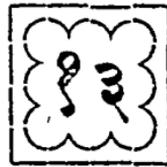
सत्याग्रह

सकडालपुत्र ने भगवान महावीर का धर्म अंगीकार कर लिया है, यह सुनकर उसका पूर्वगुरु गोशालक अपने धर्म पर पुनः आरूढ़ करने के लिए उसके पास आया।

मित्रो ! यह कह देना आवश्यक है कि जिसकी धर्म पर पूरी आस्था हो जाती है उसे फिर कोई डिगा नहीं सकता। महावीर के धर्म में और गोशालक के धर्म में एक बड़ा अन्तर यह था कि महावीर आत्मा को कर्त्ता मानते थे और ससार में इसी सिद्धान्त का प्रचार कर रहे थे, जब कि गोशालक इस सिद्धान्त से बिलकुल अनभिज्ञ था। वह नियतिवादी था। उसका कहना था कि जो कुछ होता है वह होनहार अर्थात् भवितव्यता से ही होता है। सकडाल भी पहले इसी मत को मानने वाला था परन्तु अब उसे इस पर विश्वास नहीं रहा था। अब वह दृढ़तापूर्वक यह मानने लगा था कि जो कुछ होता है वह आत्मा के कर्म का ही फल है।

आत्मा को कर्त्ता मानने वाले भारत में और भी बहुत से धर्मनायक हो गये हैं। गीता मे श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ऐसा ही उपदेश दिया था—

उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ॥

अर्थात्—हे अर्जुन ! अपने आत्मा के द्वारा ही आत्मा का उद्धार करो। आत्मा ही अपना बन्धु और आत्मा ही अपना रिपु है।

गीता के इस उद्धरण से आप लोग समझ गये होंगे कि महावीर प्रभु के उपदेश में और श्रीकृष्ण के उपदेश में कितनी समानता है। 'अप्पा कत्ता विकत्ता य' का उपदेश "उद्धरेदात्मनात्मान" से बिलकुल मिलता-जुलता है।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध होनहार को कर्त्ता मानने पर हमारे सामने ऐसे अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं, जिनका निराकरण नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, कल्पना कीजिए एक लड़का स्कूल में पढ़ने जाता है। प्रश्न यह है कि उसे पढ़ाने-लिखाने, प्रश्नोत्तर करने आदि की क्या आवश्यकता है? भवितव्यता का मत मान लेने पर इस माथापच्ची की कुछ भी उपयोगिता नहीं रह जाती। अगर लड़का विद्वान होता है तो वह भवितव्यता के अनुसार स्वयं विद्वान हो जायगा। पर लोक-व्यवहार में हम इससे सर्वथा विपरीत देखते हैं। शिक्षक लड़के को पढ़ाता है और लड़का स्वयं पुरुषार्थ करता है तब वह पढ़-लिख कर विद्वान् बनता है। अगर शिक्षक और शिष्य दोनों उद्योग करना छोड़ दें और होनहार के भरोसे बैठे रहें तो परिणाम क्या आयगा, यह समझने में कठिनाई नहीं हो सकती। इससे यही परिणाम निकलता है कि कर्त्ता के बिना कर्म होना शक्य नहीं है। मिट्टी में घड़ा बन जाने की शक्ति अवश्य है, पर कुँभार के बिना घड़ा बन नहीं सकता। भवितव्यता पर निर्भर रह कर अगर

बहिनें चूल्हे के पास आटा रख दें तो रोटी बन सकती है ? मैं समझता हूँ, भवितव्यता के भरोसे बैठ कर सारा संसार यदि चार दिन के लिए अपना-अपना उद्योग छोड़ दे तो संसार की ऐसी दुर्गति हो कि जिसका ठिकाना न रहे। संसार में घोर हाहाकार मच जायगा। इस प्रकार भवितव्यता का सिद्धान्त अपने आपमें पोच ही नहीं है वरन वह मानवसमाज की उद्योगशीलता में बड़ा रोड़ा है और लोगों को निकम्मा एवं आलसी बनाने वाला है। यही सब सोच कर सकडाल ने भगवान् महावीर का सिद्धान्त भक्तिपूर्वक स्वीकार कर लिया।

ज्यों ही गोशालक सकडाल के पास पहुँचा, सकडाल ने समझ लिया कि मेरे यह पूर्वगुरु फिर अपना सिद्धान्त मनवाने आये हैं। सकडाल ने गोशालक की तरफ से मुँह फेर लिया। उसके ललाट पर सल पड़ गये। गोशालक मूर्ख तो था नहीं। वह बड़ा बुद्धिमान् और विचक्षण था। वह सकडाल का अभिप्राय ताड़ लिया।

मित्रो ! यह विचारणीय है कि गोशालक सकडाल का पूर्वगुरु था। फिर उसने अपने पुराने गुरु के प्रति ऐसा व्यवहार क्यों किया ? इसका कारण यह है कि सकडाल को विश्वास हो गया था कि गोशालक का सिद्धान्त मेरे लिए और जगत् के लिए अकल्याणकारी है। ऐसे सिद्धान्तवादी के प्रति विनय-भक्ति प्रदर्शित करना उसके सिद्धान्त को मान देना है। इससे बड़े अनर्थ की संभावना रहती है। गोशालक के प्रति सकडाल के इस व्यवहार का यही कारण था। इसीका नाम असहयोग है।

जिस प्रकार धर्म-सिद्धान्त के लिए मनुष्य को असहयोग करना आवश्यक है, उसी प्रकार लौकिक नीतिमय व्यवहारों में

अगर राज्यशासन की ओर से अन्याय मिलता हो तो ऐसी दशा में राज्यभक्तियुक्त सविनय असहकार-असहयोग-करना प्रजा का मुख्य धर्म है। वह प्रजा नपुंसक है जो चुपचाप अन्याय को सहन कर लेती है और उसके विरुद्ध चूं तक नहीं करती। ऐसी प्रजा अपना ही नाश नहीं करती परन्तु उस राजा के नाश का भी हेतु बन जाती है, जिसकी वह प्रजा है। जिस प्रजा में अन्याय के पूर्ण प्रतीकार का सामर्थ्य नहीं है उसे कम से कम इतना तो प्रकट कर ही देना चाहिए कि अमुक कानून या कार्य हमारे लिए हितकर नहीं है और हम उसे नापसंद करते हैं।

प्रजा को बिगाड़ना राजनीति नहीं है। राजा वही कहलाता है जो प्रजा की सुव्यवस्था करे। जो राजा, प्रजा की सुव्यवस्था नहीं करता और प्रजा को कुव्यसनों में डालता है, जो अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए आबकारी जैसे प्रजा के स्वास्थ्य को नष्ट करने वाले विभाग स्थापित करता है, फिर भी प्रजा अगर चुपचाप बैठी रहती है तो समझना चाहिए वह प्रजा कायर है।

प्रजा के हित का नाश करने वाली बातें कानून के द्वारा न रोकने वाला राजा, राजा कहलाने योग्य नहीं है।

राजा के भय से अपकारक कानून को शिरोधार्य करना धर्म का अपमान करना है। धर्मवीर पुरुष राजा के अपकारक कानून को ही नहीं ठुकराता, पर राजा और प्रजा के किसी खास भाग द्वारा भी अगर कोई ऐसा कानून बनाया गया हो तो उसे भी उखाड़ फैंकने की हिम्मत रखता है।

कोणिक राजा द्वारा हार और हाथी लेने पर चेड़ा-श्रावक ने क्या किया था, जरा इस पर दृष्टि डालिए। उसने राजा और

मित्रो ! आज गोशाला दिखाई नहीं देता, पर उसका उपदेश गोशालक का सूक्ष्म रूप धारण करके आपके समाज में घूम रहा है। उसके कारण आप अपनी उद्योगशीलता को भूल रहे हैं। आपने अपनी क्षमता की ओर से दृष्टि फेर ली है। आप अपने आपको अकिंचित्कर मान बैठे हैं। यह दीनता का भाव दूर करो। अपनी असीम शक्ति को पहचानो। सच्चे वीरभक्त हो तो अपने को कर्त्ता-कार्यक्षम मान कर कल्याणमार्ग के पथिक बनो।

किसी भी दूसरे की शक्ति पर निर्भर न बनो। समझ लो, तुम्हारी एक मुट्ठी मे स्वर्ग है, दूसरी में नरक है। तुम्हारी एक भुजा में अनंत संसार है और दूसरी भुजा में अनंत मंगलमयी मुक्ति है। तुम्हारी एक दृष्टि मे घोर पाप है और दूसरी दृष्टि मे पुण्य का अक्षय भंडार भरा है। तुम निसर्ग की समस्त शक्तियों के स्वामी हो, कोई भी शक्ति तुम्हारी स्वामिनी नहीं है। तुम भाग्य के खिलौना नहीं हो, वरन् भाग्य के निर्माता हो। आज का तुम्हारा पुरुषार्थ कल भाग्य बन कर दास की भांति, तुम्हारा सहायक होगा। इसलिए ऐ मानव! कायरता छोड दे। अपने ऊपर भरोसा रख। तू सब कुछ है, दूसरा कुछ नहीं है। तेरी क्षमता अगाध है। तेरी शक्ति असीम है। तू समर्थ है। तू विधाता है। तू ब्रह्मा है। तू शंकर है। तू महावीर है। तू बुद्ध है।

भीनासर }
२०—११—२७ }

आशीर्वाद
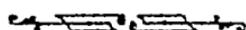
[सर मनुभाई मेहता, जो बड़ौदा स्टेट और बीकानेर स्टेट के प्रधानमन्त्री पद पर रहकर अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं और जो आजकल ग्वालियर रियासत के प्रधानमन्त्री पद को सुशोभित कर रहे हैं, आचार्य महाराज के अनुरागियों में से एक हैं। आचार्य महाराज के उपदेशों से प्रभावित होकर आप उनके अनुरागी हुए। आचार्य महाराज जब बीकानेर या आस-पास भीनासर आदि विराजमान होते थे, तब सर मेहता अक्सर उपदेश-श्रवण का लाभ लेते थे।

लन्दन में हुई पहली गोलमेज कान्फ्रेंस में सम्मिलित होने के लिए सर मनुभाई जब विलायत जाने लगे तब आप आचार्य महाराज के दर्शनार्थ आये थे। उस समय आचार्य महाराज ने जो प्रभावशाली उपदेश दिया था वह सभी के लिए उपयोगी है अतः उसका सार यहाँ दिया जाता है।]

गायकवाड सरकार के पूर्वकालीन तथा बीकानेर सरकार के वर्त्तमानकालीन प्रधान सर मनुभाई मेहता! और उदयपुर सरकार के पूर्वकालीन प्रधान राजश्री कोठारी बलवन्तसिंहजी! तथा समस्त सज्जनगण!*

---

* खेद है कि सर मेहता अब मौजूद नहीं हैं।

आज मेरा और सर मनुभाई मेहता का यह मिलन एक महत्वपूर्ण अवसर पर हो रहा है; अतएव यह मिलन भी महत्व-पूर्ण है। सर मेहता विलायत का प्रवास करने वाले हैं, और जैसा कि बतलाया गया है, शायद आज ही रवाना हो जाएँगे। आप लोगों को यह विदित होगा कि मेहताजी का यह प्रवास न तो अपने किसी निजी प्रयोजन के लिये है और न बीकानेर सर-कार के किसी कार्य के लिए। आज जो विकट समस्या, न केवल भारतवर्ष के, किन्तु सारे ससार के सामने उपस्थित है, उनको हल करने में अपना योग देने वे जा रहे हैं। दूसरे शब्दों में वे भारतवर्ष के भाग्य का निपटारा करने के लिए इंगलेण्ड जा रहे हैं।

दीवान साहब अधिकार-सम्पन्न व्यक्ति हैं। इस यात्रा के प्रसंग पर सभी लोग अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार उनकी यात्रा के प्रति शुभ-कामना प्रकट करेंगे। मैं भी साधुत्व की मर्यादा के अनुसार आपके शुभ उद्देश्यों के प्रति सहानुभूति प्रकट करता हूँ। मैं अकिंचन अनगार उन्हें जो भेंट दे सकता हूँ, वह उपदेश रूप ही है। साधुओं पर भी राजा का उपकार है और इस उपकार से उऋण होने का उपदेश ही एकमात्र उनके पास उपाय है।

साधुओं के जीवन और धर्म की रक्षा मे पाँच वस्तुएँ सहा-यक होती हैं। इन पाँच के बिना साधुओं का जीवन एवं धर्म टिकना कठिन है। इनमें तीसरा सहायक राजा माना गया है।

पर्जन्य इव भूतानामाधार: पृथिवीपति ।
विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ ॥
राजाऽस्य जगतो वृद्धेर्हेतुर्वृद्धाभिसम्मत ।
नयनानन्दजननः, शशाङ्क इव वारिधेः ॥

इन काव्यों का अर्थ गम्भीर है। इनकी विशेष व्याख्या करने का समय नहीं है। अतएव संक्षेप में यही समझ लीजिए कि राजाओं द्वारा धर्म की रक्षा हुई है। राजा द्वारा देश की स्वतन्त्रता की रक्षा होती है,प्रजा में शान्ति,सुव्यवस्था और अमन-चैन कायम किया जाता है, तभी धर्म की प्रवृत्ति होती है। जहाँ परतन्त्रता है, जहाँ अराजकता है और जहाँ परतन्त्रताजन्य हाहाकार मचा होता है, वहाँ धर्म को कौन पूछता है ?

हिन्दू-शास्त्र मे धर्म की रक्षा का रहस्य संक्षेप मे कहा है:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार, जब अधर्म बढ़ जाता है, अधर्म के बढ़ जाने से धर्म का ह्रास हो जाता है, तब धर्म की रक्षा के लिए ईश्वर अवतार लेता है। तात्पर्य यह है कि किसी महान् शक्ति के सहयोग विना धर्म की रक्षा नहीं होती। एक प्रसिद्ध जैनाचार्य ने भी कहा है :—

न धर्मो धार्मिकैर्विना ।

अर्थात् धर्मात्माओं के विना धर्म की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

सर मेहता की यह चौथी अवस्था संन्यास के योग्य है, मगर एक कर्मयोगी संन्यासी का जो कर्त्तव्य है, वे वही कर रहे हैं। इसी कारण सर मनु भाई वृद्धावस्था मे भी अपने अनुभव को उस कार्य मे लगा रहे हैं, जिसके लिए आप विलायत जा रहे हैं। सर मेहता को धर्म की रक्षा करने का यह अपूर्व अवसर मिला है।

सर मनु भाई यद्यपि अनभिज्ञ नहीं है, तथापि मैं इस अवसर पर खास तौर पर यह स्मरण करा देना चाहता हूँ कि धर्म को लक्ष्य बना कर जो निर्णय किया जाता है वही निर्णय जगत् के लिए आशीर्वाद रूप हो सकता है। धर्म की व्याख्या ही यह है कि वह मंगलमय-कल्याणकारी हो। 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं।' अर्थात जो उत्कृष्ट मंगलकारी हो वही धर्म है।

कोई यह न सोचे कि धर्म किसी व्यक्ति का ही हो सकता है। राउण्ड टेबिल कान्फ्रेंस में, जिसके लिए मेहताजी जा रहे हैं, धर्म का प्रश्न ही क्या है? मैं पहले ही कह चुका हूँ कि गुलाम और अत्याचार-पीड़ित प्रजा में वास्तविक धर्म का विकास नहीं होता, इसलिए धार्मिक-विकास के लिए स्वातन्त्र्य अनिवार्य है और इसी समस्या का समाधान करने के लिए लन्दन में कान्फ्रेंस की जा रही है।

श्रेष्ठ पुरुष शान्तिपूर्वक विचार करके सब की शान्ति का उपाय करते है।

जिस निर्णय से बहुजन-समाज का कल्याण होता है, वही धर्म का निर्णय कहलाता है। 'महाजनो येन गतः स पन्था;' अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जिस मार्ग पर चलते हैं, जो निर्णय करते हैं, वह निर्णय सभी को मान्य होता है। श्रेष्ठ पुरुष अपने उत्तरदायित्व का भलीभाँति ध्यान रखते हैं और गम्भीर सोच-विचार करके, धर्म और नीति को सामने रखकर ऐसा निर्णय करते हैं जिसे सर्व-साधारण मान्य करते हैं और-जिससे सब का कल्याण होता है। इस अपेक्षा से समाज-व्यवस्था की रचना करने वालों को ईश्वर का दर्जा दिया गया है। जन-कल्याण के लिए नीति–

मर्यादा का विधान करने वालों को अगर 'विधाता' या 'मनु' का पद दिया जाय तो इसमें अनौचित्य भी क्या है ?

सर मनु भाई यद्यपि स्वयं विवेकशील हैं, बुद्धिमान् हैं, तथापि हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि उन्हें ऐसी सद्बुद्धि प्राप्त हो, जिससे वे सत्य के पथ पर डटे रहें। नाजुक प्रसंग उपस्थित होने पर भी वे सत्य से इन्च-मात्र भी विचलित न हों। सत्य एक ईश्वरीय शक्ति है जो विजयिनी हुए बिना नहीं रह सकती। चाहे सारा संसार उलट–पलट हो जाय मगर सत्य अटल रहेगा। सत्य को कोई बदल नहीं सकता। प्रत्येक मनुष्य की जीवन-लीला एक दिन समाप्त हो जायगी, ऐश्वर्य बिखर जायगा, परन्तु सत्य की सेवा के लिए किया गया उत्सर्ग अमर रहेगा। सत्य पर अटल रहने वालों का वैभव ही स्थायी रहेगा।

साधु के नाते मैं सर मनु भाई को यह उपदेश देना चाहता हूँ कि दूसरे के असत्यमय विचारों के प्रभाव से दूर रह कर, शुद्ध मस्तिष्क से सत्य विचार करना और चाहे विश्व की समस्त शक्ति संगठित होकर विरोध में खड़ी हो तब भी अपने सत्य को नहीं छोड़ना। किसी के असत्य विचारों की परछाई अपने ऊपर न पड़ने देना। शास्त्रानुसार और अपने अन्तरतर के संकेत के अनुसार जो सत्य है, उसी को विजयी बनाना बुद्धिमान का कर्त्तव्य है और सत्य की विजय में ही सच्चा कल्याण है।

ईश्वरीय कार्यों मे बुद्धि को स्वतन्त्र रखा जाता है या परतन्त्र ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। परतन्त्र बुद्धि से जो काम किया जाता है उनके विषय मे, थोड़े से शब्दों में कुछ नहीं कहा जा सकता। तथापि इस ओर संकेत-सा कर देना आवश्यक है।

मैं सर मनुभाई मेहता को सम्मति देता हूँ कि वे अपने प्रधानमन्त्री के अधिकारों का भी यज्ञ कर दें।

मेरा तात्पर्य यह है कि अगर सच्चे कल्याण की-चाहना है तो सब वस्तुओं पर से अपना ममत्व हटा लो। 'यह मेरा है' इस बुद्धि से ही पाप की उत्पत्ति होती है। इस दुर्बुद्धि के कारण ही लोग ईश्वर का अस्तित्व भूले हुए हैं। 'इदं न मम' कह कर अपने सर्वस्व का यज्ञ कर देने से अहंकार का विलय हो जायगा और आत्मा में अपूर्व आभा का उदय होगा।

वे योगी, जो यज्ञ नहीं करते, उपहास के पात्र बनते हैं। योगियो ! अपना किया हुआ स्वाध्याय, प्राप्त किया हुआ विविध भाषाओं का ज्ञान और आचरित तप आदि समस्त अनुष्ठान ईश्वर को समर्पित कर दो। अगर तुमने सभी कुछ ईश्वर को अर्पित कर दिया तो तुम्हारे सिर का बोझा हलका हो जायगा। कामनाएँ तुम्हें सता न सकेंगी। बुद्धि गम्भीर होगी। अपना कुछ मत रक्खो। किसी वस्तु को अपनी बनाई नहीं कि पाप ने आकर घेरा नहीं।

भाइयो, आप सब लोग भी हृदय में ऐसी भावना भाइए कि सर मनुभाई मेहता को ऐसी शक्ति प्राप्त हो कि वे इंग्लेण्ड जाकर गोल-मेज-कान्फ्रेंस में अपने सम्पूर्ण साहस का परिचय दें। मेरी हार्दिक भावना है कि सब प्राणी कल्याण के भाजन करें।

अन्त में मेरा आशीर्वाद है कि आपकी भावना सदा धर्ममयी बनी रहे और धर्मभावना के द्वारा आप यशस्वी और पूर्ण सफल बनें।

चारु-चयन

यद्यपि कार्य की सहायता के लिए प्रत्येक व्यक्ति कानून-कायदा बहुजन-समाज आदि का आश्रय लेता है, लेकिन यह सब है परतन्त्रता। प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर का पुत्र है। प्रत्येक व्यक्ति में बुद्धि है और प्रत्येक की बुद्धि में जागृति है। जिसने सांसारिक लाभ के लोभ से बुद्धि की जागृति पर पर्दा डाल दिया है उसकी बुद्धि की शक्ति अवश्य छिप गई है, मगर जिसने स्वार्थ का पर्दा अपनी बुद्धि पर से हटा दिया है, वह तुच्छ से तुच्छ आत्मा भी महान् बन गया है। इसके अनेक प्रमाण मौजूद हैं। इसी निःस्वार्थ विचार-शक्ति के प्रभाव से बाल्मीकि और प्रभव चोर महर्षि के पद पर पहुँचे थे। इसलिए स्वार्थ के किवाड़ लगा कर उस विचारशक्ति को रोक देना उचित नहीं है। अपनी बुद्धि को, अपनी विचार-शक्ति को सब प्रकार के विकारो से दूर रख कर जो निर्णय किया जाता है वही उत्तम होता है।

जब आदमी को अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से काम करना है तो उसका लक्ष्य क्या होना चाहिए? उसका लक्ष्य ऐसा होना चाहिए जिसे आदर्श मान कर सब लोग अपना काम कर सकें। जहाज में बैठे हुए लोगो की दृष्टि ध्रुव पर रहती है, उसी प्रकार ऐसे लोगों को भी अपना लक्ष्यबिन्दु ध्रुव-सा बना लेना चाहिए। उस लक्ष्यबिन्दु के सम्बन्ध में भी कुछ शब्द कह देना उचित प्रतीत होता है।

जीवन-व्यवहार के साधारण कार्य, जैसे खाना-पीना, चलना फिरना आदि ज्ञानी भी करते हैं और अज्ञानी भी कर हैं। कार्यों में इस प्रकार समानता होने पर भी बड़ा भेद रहत है। अज्ञानी पुरुष अज्ञान-पूर्वक, बिना किसी विशेष उद्देश्य कार्य करता है जब कि ज्ञानी पुरुष जीवन का छोटे-से-छोटा औ

बड़े से बड़ा व्यवहार गम्भीर ध्येय से निष्काम भावना से, वासना-हीन होकर यज्ञ के लिए करता है। शास्त्रकारों ने यज्ञ के लिए काम करना पाप नहीं माना है। मगर प्रश्न यह है कि वास्तविक यज्ञ किसे कहना चाहिए? लोगों ने नाना प्रकार के हिंसात्मक कृत्य करने और अग्नि में घी होमने को ही यज्ञ मान लिया है। मगर यज्ञ के सम्बन्ध में गीता में कहा है:—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा, योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च, यतयः शसितव्रता ॥

—अ० ४ श्लो० २८

यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं। अगर किसी को द्रव्य-यज्ञ करना है तो धन पर से अपनी सत्ता उठा ले और कहे 'इदं न मम।' अर्थात् यह मेरा नहीं है। बस, यज्ञ हो गया।

संसार में जो गडबडी मची हुई है उसका मूल कारण संग्रह-बुद्धि है। संग्रह-बुद्धि से संग्रहशीलता उत्पन्न हुई और संग्रह-शीलता ने समाज में वैषम्य का विष पैदा कर दिया। इस वैषम्य ने आज समाज की शान्ति का सर्वनाश कर दिया है। उस विषमता का एक सफल उपाय है—यज्ञ करना। अगर लोग अपने द्रव्य का यज्ञ कर डालें—'इदं न मम' कह कर उसका उत्सर्ग कर दें तो सारी गड़बड आज ही शान्त हो जायगी।

द्रव्य-यज्ञ के पश्चात् तपोयज्ञ आता है। तप करना उतना कठिन नहीं है, जितना तप का यज्ञ करना कठिन है। बहुत-से लोग हैं जो तप करते हैं परन्तु उनकी उससे अमुक फल प्राप्त करने की आकांक्षा बनी रहती है। इस प्रकार आकांक्षा वाला तप एक प्रकार का सौदा बन जाता है। वह तप यज्ञ-रूप नहीं बन पाता। तप करके उससे फल की कामना न करे और 'इदं न मम' कह कर उसका यज्ञ कर दे, तो तप अधिक फलदायक होता है।

उन्हें तन ढँकने को पूरा कपड़ा भी नसीब नहीं होता। मित्रो ! विचार करने से मालूम होगा कि इसका कारण लोगों की संग्रह-बुद्धि ही है। एक ओर अन्न के लिए तरसते हुए मनुष्य मर रहे हैं और दूसरी तरफ आवश्यकता न होने पर भी जीवनोपयोगी वस्तुओं का संग्रह किया जाता है ! क्या इससे यह बात सिद्ध नहीं होती कि स्वार्थी मनुष्य, मनुष्य के घात का कारण बन रहा है ?

कई लोग कहते हैं, साँप मनुष्य का शत्रु है, क्योंकि वह उसे काट कर उसकी जीवनलीला समाप्त कर देता है। सिंह मनुष्य का शत्रु है, वह उसे फाड़कर खा जाता है। रोग फैलकर मनुष्यों का संहार करता है इसलिए वह भी मनुष्य का शत्रु है।

इन बेचारों के जबान नहीं है, अतएव मनुष्य चाहें सो आक्षेप उन पर कर सकते हैं। अगर उन्हें अपनी सफाई पेश करने की योग्यता मिली होती तो वे निडर होकर तेजस्वी भाषा मे कह सकते हैं कि—'मनुष्यों ! हम जितने क्रूर नहीं उतने क्रूर तुम हो। तुम्हारी क्रूरता के आगे हमारी क्रूरता किसी गिनती में ही नहीं है। सर्प किसी को निष्कारण नहीं काटता। वह प्रायः आत्मरक्षा के उद्देश्य से ही काटता है और जब काटता है तो मीठा जहर चढ़ता है और जिसे जहर चढता है वह मस्ती के साथ प्राणविसर्जन करता है। उसे प्रकट रूप में कुछ भी कष्ट अनुभव नहीं होता। पर मनुष्य, मनुष्य को किस बुरी तरह मारता है ? साँप और मनुष्य की तुलना करके देखो, कौन अधिक क्रूर है ?

बहुत से भाई दुर्भिक्ष के समय अपने घर में इतना अधिक धान्य संग्रह कर लेते हैं कि उनके खाने पर भी समाप्त न हो। वे लोग अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का भी विनिमय

नहीं करते। उनकी एक मात्र आकांक्षा यही रहती है कि धान्य जितना महँगा हो, उतना ही अच्छा। उनके मन में यही रटन रहती है कि पाँच सेर के बदले चार सेर का और ४ सेर के बदले तीन सेर का धान्य हो तो बड़ी बात है। इस तृष्णा ने संसार को नरक बना डाला है। जिस घर में एक आदमी है वह अपने लिए पर्याप्त संग्रह करे तो कोई मना नहीं कर सकता, जिस गृहस्थी में पाँच मनुष्य हों वे अपने योग्य उचित संग्रह करें तो किसी को क्या आपत्ति है? पर एक आदमी दस के योग्य संग्रह कर रक्खे तो परिणाम क्या होगा? न दूसरे शान्ति से रह सकेंगे और न वही। जब चारों तरफ दावानल सुलगेगा तो उसके बीच रहने वाला कोई एक शान्ति से कैसे बैठ सकेगा?

माता अपने बालक के लिए खाद्य सामग्री सचित कर रखती है और समय पर उसे खिलाकर प्रसन्नता का अनुभव करती है और बालक का पोषण भी। वैश्य का संग्रह ऐसा ही होना चाहिए। देश की प्रजा उसके लिए बालक के समान है।

एक गाय को ५० पूले घास के एक साथ डाले गये। वह उन्हें खाती नहीं। पैरों से रौंद-रौंद कर बिगाड़ती है। वह घास न तो उसके काम आता है, न दूसरों के। गाय इस बात को समझती नहीं, इस कारण उसके मालिक को सोचना चाहिए कि मैं गाय को उतने ही पूले डालूँ, जिससे गाय का काम चल जाय और घास नाहक न हो। जो इस प्रकार की वृत्ति अपनी गिरस्ती में रखेगा उसे कोई पापी नहीं कहेगा।

मित्रो! आदर्श वैश्य संसार की माता की तरह संग्रह करता है, जोंक की तरह नहीं। जो इस बात का ध्यान रखता है

जुआ हिंसाकारी है, जुए से असत्य भाषण होता है, जुआरी चोरी करने के लिए भी उद्यत हो जाता है। जुए से निश्चय ही मनुष्य दुःख का भागी होता है।

वास्तव में जुआरी प्राणियों पर दया नहीं करता। धर्मराज युधिष्ठिर ने जुए के जाल में फँस कर के ही द्रौपदी को दाव पर रख दिया था। जुआ धर्मराज की बुद्धि पर भी पर्दा डाल सकता है तो दूसरे साधारण मनुष्यों की बात ही क्या है?

जुआ और खेती के पाप की तुलना करते समय आप यह बात भी न भूल जाइए कि शास्त्रों में जुए को सात कुव्यसनों में गिना गया है, पर खेती करना कुव्यसन के अन्तर्गत नहीं है। श्रावक को सात कुव्यसनों का त्याग करना आवश्यक है। अगर जुए की अपेक्षा खेती में अधिक पाप होता तो सात कुव्यसनों की अपेक्षा खेती का पहले त्याग करना आवश्यक होता। परन्तु शास्त्र बतलाते हैं कि आनन्द जैसे धुरंधर श्रावक ने श्रावकधर्म धारण करने के पश्चात् भी खेती करने का त्याग नहीं किया था।

इस विवेचन से आप अल्प पाप और महापाप को समझ सकेंगे, फिर भी अधिक स्पष्टीकरण के लिए मैं कुछ उदाहरण आपके सामने रखता हूँ। उनसे कई बातों का निचोड़ निकल सकेगा।

एक पुरुष कहता है—मैं ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता। अतएव विषय-लालसा की तृप्ति के लिए दो-दो मास में वेश्या-गमन करना अच्छा समझता हूँ। सामाजिक मर्यादा

के अनुसार विवाह करना अधर्म है। विवाह करने में कई आरम्भ-समारम्भ करने पडते हैं। विवाह के पश्चात् भी कपड़े के लिए और कभी गहनों के लिए आरंभ करना पड़ता है। विवाह के फल स्वरूप पुत्र या पुत्री का जन्म होने पर उनके विवाह आदि के निमित्त भी तरह-तरह का सावद्य व्यवहार करना पड़ता है और इस प्रकार पाप की परम्परा चलती जाती है। अतएव विवाह में सिवाय आरम्भ के और कोई बात ही नहीं है।

वह कहता है—'वेश्या-गमन में ऐसा कोई झंझट ही नहीं है। थोड़े से पैसे दिये और छुट्टी पाई। वह मरे चाहे जिये, हमें कोई सरोकार नहीं। न हमें वेश्या के कपड़े की चिन्ता, न आभूषणों की फिक्र। न उनके लिए किसी प्रकार का आरंभ, न किसी तरह का समारभ। विवाह आरभ–समारभ का घर है। अतएव विवाह से वेश्या गमन में कम पाप है।

मित्रो ! ऊपर की दृष्टि से वेश्या-गमन में कम पाप नजर आता है, पर जरा गहराई में जाकर देखो तो पता चलेगा कि इस विचार में अनर्थों की कितनी दीर्घ परम्परा छिपी हुई है। यह विचार कितने भयकर पापों से परिपूर्ण है। इस कुविचार की बुराइयाँ जिह्वा द्वारा नहीं बतलाई जा सकतीं।

गृहस्थ सदाचारी बन सकता है, वेश्यागामी नहीं। वेश्यागामी महापापी है। यहाँ तक कि वेश्या-गमन की भावना मन में उदित होना भी घोर पाप का कारण है।

दूसरा उदाहरण लीजिए—एक आदमी खेती करके थोड़े से पैसे कमाता है और सतोष से अपना जीवन यापन करता है।

पापी कहते हैं किन्तु जो लोग गद्दियों पर पड़े-पड़े ब्याज खाते हैं या किसी ऐसे ही व्यापार द्वारा गरीबों को चूसते हैं, अपने हाथ से कुछ भी काम नहीं करते, आलस्य में पड़े-पड़े 'उसे मारूँ, इसे गिराऊँ, उसका धन स्वाहा करदूं, इसे फँसाऊँ, अमुक का घर-द्वार नीलाम चढ़ा दूं' ऐसा सोचा करते हैं, उन्हें आप पुण्यात्मा समझते हैं। यह कैसा उलटा ज्ञान है? जो लोग मिट्टी भिगोने और जूते गाँठने में ही पाप मानते हैं और ऐसे भयकर कामों को पाप नहीं मानते, वे अभी अज्ञान मे पड़े हैं।

आज परपरा के कारण पुष्प सूंघने वाले को पापी और तमाखू सूंघने वाले को अच्छा समझा जाता है। लोग इसका कारण यह समझते हैं कि तमाखू अचित्त वस्तु है और पुष्प सचित्त। किन्तु अगर आप इन दोनो को विचार की तुला पर तोलेंगे तो बड़ा अन्तर नज़र आएगा। उस समय आपको मालूम होगा कि तमाखू मे ज्यादा पाप है या पुष्पो मे। जैनशास्त्र ऊपर-ऊपर से विचार करने का उपदेश नहीं देता, वह उत्पत्तिस्थान तक की खोज करने का उपदेश देता है। अगर आप इस बात का विचार करेंगे कि तमाखू किस प्रकार बोई जाती है और बाद में कितने आरंभ-समारंभ के साथ तैयार की जाती है और साथ ही मादक होने के कारण उसमें कितनी भाव हिंसा होती है तो आपको तत्काल मालूम हो जायगा कि पुष्प सूँघने में अपेक्षाकृत अल्प पाप और तमाखू सूंघने में अपेक्षाकृत महापाप है। जिन भाइयों को इतना गहरा विचार करना न आवे, वे यदि ऊपरी दृष्टि से भी विचार करेंगे तो भी उन्हें असलियत का भान हो जायगा।

विचार कीजिए, मनुष्य तमाखू सूंघने के बाद क्या करता है? वह नासिका का मैल इधर-उधर डाल देता है और कई

बार दीवालों पर भी हाथ से पोंछ लेता है। यहाँ तक देखा जाता है कि कई लोग अपने कपड़ो से भी पोंछ लेते हैं। और उनके कपडे बुरी तरह बासने लगते हैं। लोग उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। और जब कपडे बहुत मैले-कुचैले हो जाते हैं तब धोये जाते हैं। कहिए, तमाखू सूंघने से कितना आरंभ-समारंभ बढ़ा? पर क्या आपने पुष्प सूंघने में यह दोष देखे हैं? पुष्प की सुगन्ध से हवा शुद्ध होती है, मस्तिष्क मे शान्ति का संचार होता है, उसमें और भी कई प्रकार के गुण है, ऐसा वैद्यकशास्त्र और आज का विज्ञान बतलाता है। पर तमाखू में कौन से गुण हैं, जिनके लिए इतना आरभ-समारम्भ किया जाता है! अलबत्ता यह तो सुना गया है कि तमाखू सूंघने वालो को कई प्रकार की बीमारियाँ पैदा होती हैं।

आज आप लोग पुष्पो की सुगन्ध से, पाप समझ कर डरते हैं पर मस्तिष्क को भ्रष्ट करने वाली ब्राडी जैसी अपवित्र और पापमय चीजों से बने सेंट, लवेंडर वगैरह सूंघने में जरा भी हचकिचाहट नहीं करते। मैं यह नहीं कहता कि पुष्प सूंघने मे पाप नहीं है, अवश्य है, पर इनके बराबर नहीं। पर ऐसी तुलना के लिए सीधी चीजों पर मौज उड़ाने वालों को समय कहाँ? अप्रत्यक्ष मे अतगे के लिए हजारों लाखों पुष्प भले ही तोड़े जाएँ, इसकी कुछ भी परवाह नहीं, पर यों एक फूल सूंघने मे जल्दी पाप नजर आजाता है। मित्रो! विवेक सीखो। धर्म विवेक मे है—अन्धाधुन्धी मे नहीं।

भीनासर }
२१—११—२७ }

बल है ? ऐसा धन बल, बल क्या हुआ वैरी हुआ। इसे तुच्छ समझकर प्रभु की शरण मे जाओ।

जनबल की भी यही दशा है। यह कई बार कीड़ा बन कर तुम्हारा घोर अहित करता है। संसार में सर्वोत्कृष्ट बल ईश्वर का ही बल है। उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न करो।

ससार के पदार्थ दगाखोर है या नही, यह निर्णय करना हो तो अनाथी मुनि का अनुकरण करो। उन्होंने हाँडी की तरह बजा-बजा कर हरेक वस्तु की परीक्षा की थी। परीक्षा करने पर तुम्हें भी थोथापन नजर आने लगेगा।

*　　*　　*　　*

जब तक गरीब आपको प्यारे नहीं लगेंगे तब तक आप ईश्वर को प्यारे न लगेंगे।

अगर आपको गरीब प्यारे नहीं लगते, तो क्या दूसरों को मारने के लिए ईश्वर से बल की याचना करना चाहते हो ?

*　　*　　*　　*

जो मनुष्य जिस काम को नहीं जानता उसे उसके फल को भोगने का क्या अधिकार है ? जो कपड़ा बुनना नहीं जानता उसे कपड़ा पहनने का अधिकार नहीं है। जो अन्न पैदा नहीं कर सकता उसे खाने का क्या अधिकार है ?

प्राचीन काल में बहत्तर कलाएँ प्रत्येक को सीखनी पड़ती थीं। उनमें कपड़ा बुनना और खेती करना क्या सम्मिलित नहीं था ?

*　　*　　*　　*

जो देश रोटी और कपड़े के लिए दूसरे देश का मुंह ताकता है वही गुलाम है। गुलामी रोटी और कपड़े की पराधीनता से आती है। जो देश दो बातों में अर्थात् रोटी और कपड़े में स्वतन्त्र होता है उसे कोई गुलाम नहीं बना सकता।

* * * *

रोटी को छोटी और गहनों को बड़ी चीज मानना विवेकशून्यता का लक्षण है। गहनों के बिना जीवन कट जाता है पर रोटी के बिना कितने दिन कट सकेंगे ? आपने गहनों को बड़ी चीज मान कर आडम्बर बढ़ा लिया। परिणाम यह हुआ कि भारत में छह करोड़ आदमी भूखों मरते हैं।

* * * *

आपके घर में विधवा बहिनें शीलदेवियाँ हैं। इनका आदर करो। इन्हें पूज्य मानो। इन्हें खोटे दुखदायी शब्द मत कहो। यह शीलदेवियाँ पवित्र हैं, पावन हैं। यह मंगलरूप हैं। इनके शकुन अच्छे हैं। शील की मूर्ति क्या कभी अमङ्गलमयी हो सकती है ?

समाज की मूर्खता ने कुशीलवती को मङ्गलमयी और शीलवती को अमङ्गला मान लिया है। यह कैसी भ्रष्ट बुद्धि है ?

* * * *

याद रखो, अगर समय रहते न चेते और विधवाओं की मान रक्षा न की, उनका निरन्तर अपमान करते रहे, उन्हें ठुकराते रहे, तो शीघ्र ही अधर्म फूट पड़ेगा। आपका आदर्श धूल में मिल जायगा और आपको संसार के सामने नतमस्तक होना पड़ेगा।

विधवा या सुहागिन बहिनों के हृदय में कुविचार उत्पन्न होने का प्रधान कारण उनका निकम्मा रहना है। जो बहिनें काम काज में फँसी रहती हैं, उन्हें कुविचारों का शिकार होने के लिए अवकाश नहीं मिलता।

विधवा बहिनों के लिए चर्खा अच्छा साधन माना गया है, पर आप लोग तो उसके फिरने में वायुकाय की हिंसा का महा पाप मानते हैं। आपको यह विचार कहाँ है कि अगर विधवाएँ निकम्मी रह कर इधर-उधर भटकती फिरेंगी और पापाचार का पोषण करेंगी तो कितना पाप होगा।

* * * *

बहिनो! शील आपका महान धर्म है। जिन्होंने शील का पालन किया है वे प्रातःस्मरणीय बन गईं। आप धर्म का पालन करेंगी तो साक्षात् मंगलमूर्ति बन जाएँगी।

बहिनो! स्मरण रक्खो—'तुम सती हो, सदाचारिणी हो, पवित्रता की प्रतिमा हो। तुम्हारे विचार उदार और उन्नत होने चाहिए। तुम्हारी दृष्टि पतन की ओर कभी न जानी चाहिए। बहिनो! हिम्मत करो, धैर्य धारण करो। सच्ची धर्मधारिणी बहन में कायरता नहीं हो सकती। धर्म जिसका अमोघ कवच है, उसमें कायरता कैसी?

* * * *

मातृभूमि और माता का बखान नहीं हो सकता। इनकी महिमा अगाध है। यह स्वर्ग से अधिक प्यारी हैं। इसलिए महापुरुष कहते हैं—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

याद रखना चाहिए —आपके ऊपर मातृभूमि का ऋण सब से ज्यादा है। आपके माता-पिता इसी भूमि में पले हैं और इसी के द्वारा उनका और आपका जीवन टिक रहा है। अतएव आपका सर्वप्रथम कर्त्तव्य उसका ऋण चुकाना होना चाहिए। मातृभूमि और माता के ऋण से उऋण हो जाने के बाद आगे पैर बढ़ाना उचित है।

* * * *

यह शरीर पंच भूत रूपी पंचों का मकान है। शुभ कर्म रूपी किराया देने पर हमें यह मिला है। अतएव इसके मालिक बनने की दुश्चेष्टा न करते हुए शीघ्र ही कुछ शुभ कार्य कर लेने चाहिए, ताकि पंचों को धक्का देकर बाहर निकालने का अवसर न मिले। अगर हम किराये की चीज पर अपना स्वामित्व स्थापित करने का दुस्साहस करेंगे तो नरक का कारागार तैयार है। मित्रो ! सावधान बनो।

सम्पूर्ण श्रद्धा से कार्य में सफलता मिल जाती है। अविश्वासी को सफलता इसलिए नहीं मिलती कि उसका चित्त डाँवाडोल रहता है। उसके चित्त की अस्थिरता ही उसकी सफलता में बाधक होती है।

* * * *

मनुष्य मात्र ईश्वर की मूर्ति है। किसी भी मनुष्य को नीच मत समझो। उनसे घृणा मत करो। मनुष्य से घृणा करना परमात्मा से घृणा करना है। अज्ञानी जिसे नीच कहते हैं, उनकी सेवा करो, बल्कि उनकी खूब सेवा करो। संतुष्ट रहो। दुःख पड़ने पर घबराओ नहीं, सुख में फूलो मत। समभाव में ही सच्चा सुख है।

घर-द्वार, हाट-हवेली, रुपया, पैसा—कोई भी जड़ वस्तु स्थिर नहीं है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती भी इन्हें साथ नहीं ले जा सके। क्या तुम साथ ले जाने की आशा रखते हो? नहीं, तो सद्व्यय करना सीखो, दान करने से परोपकार के साथ आत्मोपकार भी होता है। परोपकारी को सारी दुनिया पूजती है।

*　*　*　*

ओ मनुष्य! तू तकदीर लेकर आया है। जरा तकदीर पर भरोसा रख। प्रकृति का कानून मत तोड़। क्या मांस न खाने वाले भूखों मरते हैं? हम देखते हैं कि जितने मांसाहारी भूखों मरते हैं, उतने शाहकारी नहीं।

*　*　*　*

मतान्ध होना मूर्खता का लक्षण है। विवेकपूर्वक विचार करने मे ही मानवीय मस्तिष्क की शोभा है।

दुनिया के तमाम काम करते हो, तुम्हें ईश्वर के नाम लेने का भी काम करना चाहिए। ईश्वर का नाम लेने से तमाम कुवासनाएँ मिट जाती हैं। राजा जिसका हितचिन्तक बन जाता है उसे चोरों और डाकुओं का डर नहीं रहता; पर जो पुरुष राजा (परमात्मा) के साथ नाता जोड़ लेगा उसे काम, क्रोध, आदि लुटेरे नहीं लूट सकते। वह सदा सर्वत्र निर्भय रहेगा।

*　*　*　*
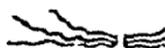
सामायिक
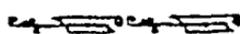
राग-द्वेष का परित्याग कर, प्राणीमात्र को विनय के साथ अपने आत्मा के समान देखना 'सम' है। उस समभाव का आय अर्थात् लाभ होना 'समाय' कहलाता है और जिस क्रिया के द्वारा 'समाय' की प्रवृत्ति की जाय उसे 'सामायिक' कहते हैं।

कोई भाई प्रश्न कर सकता है कि हम गृहस्थ लोग राग-द्वेष से छूट कर समत्व कैसे प्राप्त कर सकते हैं? समभाव का उपदेश तो क्षत्रियत्व का नाशक और कायरता का उत्पादक जान पड़ता है। यह विधवा बहिनों और उन श्रावकों के लिए हो सकता है। जिन्होंने संसार-बन्धन को ढीला कर दिया है। संग्राम या व्यापार करने वालों के लिए यह उपदेश किस काम का?

मित्रो! यह तर्क बिलकुल पोचा मालूम होता है। अगर सामायिक का मर्म समझ लिया जाय तो, उलटी समझ के कारण सामायिक के विषय में उत्पन्न होने वाले तर्क उठ ही नहीं सकते। क्या कोई शूरवीर भूखा रह कर संग्राम कर सकता है? भोजन सामग्री समाप्त हो जाने पर सिपाही एक दिन भी संग्राम में नहीं टिक सकता। आप जब व्यापार के लिए बाहर निकलते हैं, तब साथ में कुछ सामग्री क्यों ले जाते हैं? इसलिए कि यह सामग्री आपकी शक्ति है। उसे आप नहीं भूलते; पर मित्रो! आप सच्ची शक्ति देने वाली वस्तु के प्रति शंकाशील अथवा प्रमादशील बन गये हैं।

तो अनुमान लगाइए कि सामायिक कितनी कीमती है, जिसे त्याग कर वह उन वस्तुओं को लेने के लिए तैयार नहीं होता। सामायिक के समय प्राप्त होने वाले बड़े भारी उपहार को भी श्रावक खुशी के साथ अस्वीकार कर देता है, मानो स्वयं उसका दान ही करता हो। उस समय के उसके हर्ष की तुलना करना अशक्य है। उस हर्ष का अनुभव बातों से नहीं, क्रिया से हो सकता है।

सामायिक में बैठ करके भी जो अपने भाग्य को कोसता है, तुच्छ वस्तुओं के लिए भी आठ-आठ आँसू गिराता है, उसे कुछ लाभ नहीं होता। ऐसी सामायिक करने और न करने में ज्यादा अन्तर नहीं रहता।

सामायिक के समय श्रावक को समस्त सावद्य अर्थात् पापमय क्रियाओं से निवृत्त होकर निरवद्य अर्थात् निष्पाप क्रिया ही करनी चाहिए।

जैसे चतुर व्यापारी अपने पुत्र को व्यापार में प्रवृत्त करते समय सीख देता है कि—देखो, लुच्चे, लफंगे, चोर तुम्हारे पास बहुत आवेंगे, उनसे सावधान रहना और भलेमानसों के साथ ही व्यापार करना। शास्त्रकार की सावद्य और निरवद्य की सीख श्रावक के लिए ऐसी ही है। इस पर खूब ध्यान देना चाहिए।

सामायिक कितने समय तक करनी चाहिए, शास्त्र में इसके लिए नियमित समय का उल्लेख देखने में नहीं आया। पूर्वाचार्यों ने दो कच्ची घड़ी का समय नियत किया है। यह समय ठीक है और हम भी इसका समर्थन करते हैं।

सामायिक में बैठ कर निकम्मा नहीं रहना चाहिए। मनुष्य का मन बन्दर-सा चंचल है। उसे कुछ न कुछ काम चाहिए। जब उसे अच्छा काम नहीं मिलता तो बुरे काम में ही लग जाता है। बुरे काम कहो चाहे सावद्य काम कहो, एक ही बात है। सावद्य काम नीचे गिराने वाले और निरवद्य काम ऊपर उठाने वाले होते हैं। अतएव श्रावक को निरवद्य कामों की तरफ विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। कहा भी है:—

सामाइयंमि तु कडे, समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एतेण कारणेणं, बहुसो सामाइअं कुज्जा ॥

अर्थात्—सामायिक करते समय श्रावक भी साधु के समान हो जाता है, क्योंकि वह उस समय सावद्य का त्यागी है, अतएव बार-बार सामायिक करनी चाहिए।

अर्थात् उष्ट्रिका नामक प्रमाण से बना हुआ एक मिट्टी का पात्र होता था। आनन्द उसे भर कर स्नान करता था। इसका मतलब यह था कि पानी कहीं आवश्यकता से न्यूनाधिक न हो। मित्रो! देखिए, परिमाण करने से कितनी निवृत्ति हो गई? एक आदमी कुएँ में या सरोवर में स्नान करेगा और दूसरा इस प्रकार करेगा। अब आप ही सोचिए, महापाप से कौन बचा?

(उपासकदशांग की व्याख्या में से उद्धृत)

भीनासर
२०—१०—२७ }

दतौन

'दंतवणविहि' का संस्कृत टीका में अर्थ किया है—दंतपावनं दन्तमलापकर्षणकाष्ठम् ।' अर्थात् दांतों का मल साफ करने के काम में आने वाली लकड़ी ।

पहले के श्रावक दतौन भी किया करते थे। आजकल के कई भाई हाथ-मुँह धोने और दतौन करने का दो-चार दिन के लिए त्याग ले लेते हैं पर श्रावक के लिए ऐसी क्रिया का कहीं विधान देखने में नहीं आया। लोग अपने मन से कुछ भी कर लें, मगर मैं तो इस समय शास्त्र की बात कह रहा हूँ।

पूर्वीय और पाश्चात्य वैद्यक-शास्त्र के कथनानुसार दतौन न करने से बड़ी-बड़ी बीमारियाँ हो जाती हैं।

कई भाई इसलिए दतौन करना छोड़ देते हैं कि ऐसा करने से 'आरम्भ' से बच जाएँगे। साधुजी जब दतौन नहीं करते तो हम भी दतौन न करें। इसमें हानि ही क्या है ?

परन्तु उन भाइयों को समझना चाहिए कि श्रावक और साधु की विधि में इतना अन्तर है, जितना आसमान और जमीन में। साधु ब्रह्मचर्य पालन करते हैं और भोजन पर पूर्ण अंकुश रखते हैं। आरोग्य-शास्त्र का नियम है कि जो सात्विक और सुपच आहार करता है उसके दांतों पर मैल नहीं जमता तथा दुर्गन्ध भी पैदा नहीं होती। इस नियम के अनुसार साधु बिना दतौन के भी रह सकता है, पर आजकल के गृहस्थ, जो

आहार आदि पर जरा भी अंकुश नहीं रखते, कैसे साधुओं का अनुकरण करते हैं, यह समझ में नहीं आता।

कई साधु भी गृहस्थ को दतौन का त्याग करा देते हैं। इसका कारण यह मालूम होता है कि साधु की सहज दृष्टि इसी पर जाती है। और गृहस्थ भी यही सोचता है कि जब मुनि महाराज दतौन के सर्वथा त्यागी हैं, तब हम भी कुछ दिनों के लिए उनका अनुकरण करें तो क्या हर्ज है ? पर मित्रो ! मैं यह कहता हूँ कि जो साधु लौकिक दृष्टि को सामने न रखते हुए गृहस्थ को त्याग देता है, वह उस पर अनुचित बोझा डालता है। ऐसा करने से वे उलटे रोगी बन जाते हैं।

दतौन का त्याग जिसे करना है वह खुशी से त्याग करे, परन्तु इस त्याग से पहले जिस तैयारी की आवश्यकता है, जैसे तामस और राजस भोजन का त्याग, मर्यादाहीन भोजन का त्याग आदि, पहले उसकी पूर्ति तो करले। पशु अपनी मर्यादा के अनुसार ही भोजन करता है, अतएव उसे दतौन करने की आवश्यकता नहीं होती। फिर भी उसके दांत मनुष्य के दांतों की अपेक्षा अधिक साफ-सुथरे रहते हैं। कहने का आशय यह है कि आप दांतों को मैला बनाने वाले भोजन का त्याग कर दें तो दतौन करने की आवश्यकता ही न रहे। आप ऐसे भोजन का त्याग नहीं करते और इस कारण दांत मलीन और दुर्गन्धमय बन जाते हैं। फिर भी दतौन करने का त्याग करते हैं, यह चारित्र के क्रम के अनुकूल नहीं है। अतएव मित्रो ! क्रम को देखो और चारित्र की शृंखला की ठीक तरह से रक्षा करो।

साधुओं को अपनी विधि पालने के लिए शास्त्र में वर्णित किसी उच्च श्रेणी के साधु को अपना आदर्श बनाना चाहिए।

इसी प्रकार श्रावक को अपनी विधि पालने के लिए उस श्रावक आनन्द की दिनचर्या पर ध्यान देना चाहिए। आनन्द श्रावक का उल्लेख इसी प्रयोजन के लिए शास्त्र में किया गया है। ऐसा न होता तो उसके उल्लेख की आवश्यकता ही क्या थी?

(उपासकदशांग की व्याख्या में से उद्धृत)

भीनासर
२०—१०—२७ }

वीर्यरक्षा

मनुष्य को अपनी श्रेष्ठता का गर्व है। वह प्राणी-जगत् में अपने को सर्वोत्कृष्ट मानता है। यह ठीक भी है। मनुष्य में अपना हित-अहित पहचानने की जैसी विशिष्ट बुद्धि है, वैसी अन्य प्राणियों में नहीं पाई जाती। पर उस बुद्धि का कितना मोल कूता जा सकता है, जो वन्ध्या है, जो निष्फल है। बुद्धि का फल सदाचार है। हिताहित के विवेक की सार्थकता इस बात में है कि मनुष्य हित की बात जान कर उसमे प्रवृत्त हो और अहित-कारक बात से दूर रहे। बुद्धि जब आचार की जननी नहीं बनती तब वह वन्ध्या है। मनुष्य के लिए अन्यान्य बोझों के समान वह भी बोझ है।

पशुओं में मनुष्य जैसी विशिष्ट बुद्धि न सही, पर उनमें जितनी बुद्धि है उस सब का अगर वे सदुपयोग करते हैं और मनुष्य अपनी अतुल बुद्धि का अगर दुरुपयोग करता है, तो आप निर्णय कीजिए दोनों में कौन श्रेष्ठ है ?

जीवन के प्रधान आधारभूत वीर्यरक्षा की कसौटी पर मनुष्य को और पशु को परखिए। आपको आश्चर्य होगा कि जगत् का सर्वश्रेष्ठ प्राणी किस प्रकार पशु से भी इस विषय में गया-बीता है। जो बुरी बात पशुओं में भी नहीं पाई जाती वह मनुष्य में, यहाँ तक कि श्रावक कहलाने वालों में भी पाई जाती है।

श्रावक परस्त्री का त्याग करते हैं पर स्वस्त्री में अपने को सर्वथा ही खुला समझते हैं। आप जरा मेरी बात पर ध्यान दीजिए। मैं पूछता हूँ, जो पराये घर की जूठन त्याग कर अपने घरकी रोटियाँ मर्यादा भुलाकर खायेगा उसे क्या अजीर्ण न होगा? क्या वह रोग से बच जायगा? नहीं। भाइयो! चाहे पराये घर की जूंठन आपने त्याग दी हो पर यदि अपने घर की मर्यादा—मात्रा—न रक्खोगे तो याद रखना आपकी रक्षा न होगी। स्वदारसन्तोष धारण करना पुरुषमात्र का कर्त्तव्य है। स्वस्त्री के प्रति तीव्र असन्तोष होना श्रावक-धर्म से प्रतिकूल है।

पहले के ज़माने में बिना पूर्ण वय के कोई संसार-कृत्य नहीं करता था, पर आज आठ-आठ दस-दस वर्ष के छोकरे इस काम में लग जाते हैं। जो माता-पिता उनका इस उम्र में विवाह कर देते हैं, क्या वह कायदे के अनुसार है? कई नामधारी श्रावक सूक्ष्म हिंसा की तरफ ध्यान देते हैं पर इस कृत्य के द्वारा होने वाली भयकर हिंसा उनकी नजर में नहीं आती। कितनेक धनवानों ने यह भ्रष्टकारिणी प्रथा चला कर भोली जनता के सामने एक पतित आदर्श खड़ा किया है। लग्न क्रिया के लिए शास्त्र में 'सरिसवया' आदि पाठ कहा गया है। विवाह करने के पश्चात् भी स्त्री 'धम्मसहाया' अर्थात् धर्मक्रिया में सहायता पहुँचाने वाली समझी जाती थी। वह आज भोग की सामग्री गिनी जाती है।

जो वस्तु सजीवनी जड़ी से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है उसे इस प्रकार नष्ट करना सचमुच घोर अविवेक है और अपने पतन को आमंत्रण देना है। क्या आप अमृत से पैर धोने वाले को बुद्धिमान् कहेंगे? नहीं। जिस वस्तु से तीर्थङ्कर, अवतार या महा-

पुरुष कहलाने वाले महान् आत्मा उत्पन्न होते हैं, उस वस्तु को ऋतुकाल के बिना फेंक देना कितनी मूर्खता है ? जो भाई-बहिन अपनी शक्ति की समुचित रक्षा करेंगे वे संसार के सामने आदर्श खड़ा कर सकेंगे। आपने हनुमानजी का नाम सुना है, जिनमें अतुल बल था। जानते हैं, उनमें वह बल कहाँ से आया था ? यह रानी अंजना और महाराज पवन के बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालने का प्रताप था। इसलिए वीर्यरक्षा करना अपनी सन्तान की रक्षा करना है।

कितनेक मनुष्यों की दशा कुत्तों और गधों से भी गई-बीती पाता हूँ, तब मेरे संताप की सीमा नहीं रहती। ये जानवर प्रकृति के नियमों के कितने पावन्द रहते हैं ? पर मनुष्य ? वह प्रकृति के नियमों को निःसंकोच होकर ठुकराता है। शायद मनुष्य सोचता है—'मेरे सामर्थ्य के सामने प्रकृति तुच्छ है ! वह मेरा क्या बिगाड़ सकेगी ?' पर इस अज्ञान के कारण मनुष्य को बहुत बुरे नतीजे मिले हैं और मिल रहे हैं। ये जानवर नियत समय में अपनी कामवासना तृप्त करते हैं पर मनुष्य के लिए 'सब दिन एक समान' हैं। कहाँ तक कहा जाय, विवाह हो जाने पर भी मनुष्य पर-स्त्री के पीछे धूल खाते फिरते हैं ! हाय ! यह कितनी बड़ी नीचता है ? क्या मनुष्य में अब पशुओं जितनी बुद्धि भी अवशेष नहीं रही ? ६० वर्ष के बूढ़े के गले १२ वर्ष की कन्या बाँध देना विवाहप्रथा का बीभत्स उपहास करना है, मानवीय बुद्धि का दिवाला फूँक देना है, अनाचार-दुराचार को आमंत्रण देना है, समाज के विरुद्ध अक्षम्य विद्रोह करना है, राष्ट्र के साथ द्रोह करना है, भावी सन्तान के पैर पर कुठाराघात करना है और स्वयं अपने जीवन को कलंकित करना है।

इस प्रकार का दुस्साहस प्रायः अमीर लोग ही करते हैं। बेचारे गरीबों की इतनी हिम्मत कहाँ? धनवान् मनुष्यो! क्या तुम्हारे पास धन इसलिए है कि तुम उससे पशुता-पशुओं से भी बदतर-स्थिति खरीदो?

बालविवाह
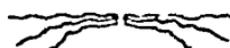
पूज्य श्रीलालजी महाराज कहा करते थे कि किसान जब बीज बोता है तो पहले उनका वजन देख लेता है। जो बीज ज्यादा वजनदार होता है वह अच्छा गिना जाता है। और उससे निपज भी अच्छी होती है। किसान बीज की जितनी जाँच पड़ताल करता है उतनी जाँच आप अपने बालकों और बालिकाओं के लिए करते हैं? याद रखिए वीर्यशाली युगल ही भारी-बलवान् होगा और उसीसे उत्तम सन्तान उत्पन्न हो सकेगी। पोचे माता-पिता स्वयं ही दुःखमय जीवन नहीं बिताते वरन् अपनी सन्तानपरम्परा में भी दुःख के बीज बोते हैं। मित्रो! मैं पूछना चाहता हूँ कि इस दुर्गति का उत्तरदायित्व किस पर है? कहिए, छोटी उम्र में मातृ-पितृ पद की दीक्षा देने वालों पर।

बेचारे भोले-भाले बालक, जिन्होंने दाम्पत्य जीवन की पूरी तरह कल्पना भी नहीं की, जो संसार को खिलवाड़ समझते हैं, जिनमें स्त्रीत्व और पुरुषत्व की भावना भी परिपक्व नहीं होने पाई है, आप लोगों के द्वारा दाम्पत्य की बोझीली गाडी में जोत दिये जाते हैं! खेद की बात तो यह है कि आप बालविवाह के दुष्परिणाम प्रत्यक्ष देखते हैं फिर भी नहीं चेतते। बालविवाह के

फलस्वरूप सन्तति रोगी, शोकी, निर्बल और अल्पायुष्क होती है।

आज भारत में सर्वत्र इसी प्रकार की चंचलता नजर आ रही है। विवाह के विषय में जितनी अधीरता पाई जाती है उतनी शायद ही किसी अन्य विषय में हो। नीतिज्ञ जनों का उपदेश है कि—

गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।

अर्थात् मौत सिर पर नाच रही है, ऐसा सोचकर धर्म का आचरण करना चाहिए।

पर आपके यहाँ उल्टी गङ्गा बहती है। धर्माचरण के समय तो आप सोचते हैं—'बुढ़ापा किस काम आएगा? उस समय सांसारिक झंझट कम हो जाएँगे तो धर्म की आराधना हो जायगी। पर बच्चों के विवाह के विषय में ऐसा विचार करते हैं मानों आपने संसार की नश्वरता को भलीभाँति समझ लिया है और जीवन का कल तक भरोसा नहीं है। इस कारण 'काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।' इस नीति का अवलम्बन करते हैं। और आप समझते हैं कि हम अपनी सन्तति के बड़े हितचिन्तक हैं! आपके खयाल से आपकी सन्तान में इतनी योग्यता नहीं कि वह आवश्यकता समझने पर अपना विवाह आप कर लेगी। पर मित्रो! कभी आप यह भी विचार करते हैं कि जो सन्तान अपना विवाह करने योग्य भी न होगी, उसमें विवाहित जीवन का गुरुतर भार सहार सकने की योग्यता कहाँ से होगी?

अगर आप अपने अन्तःकरण की समीक्षा करें तो मालूम होगा कि विवाह सम्बन्धी अधीरता में सन्तान के कल्याण की

कामना कारण नहीं है मगर अपने आनन्द की अपरिहार्य अभिलाषा ही उस अधीरता का प्रधान कारण है। पुत्र और पुत्रियों से आपका जी-भर गया है। अब आपके मनोरंजन के लिए नयी सामग्री के रूप में पोता और पोतियों की जरूरत है। बस, अपने मनोरंजन के हेतु आप अपनी सन्तान पर भी दया नहीं खाते! अपने स्वार्थ के लिए उनके साथ ऐसा निर्दय व्यवहार करते हैं कि उन्हें जीवन भर उसका कटुक फल भुगतना पड़ता है और फिर भी उसका अन्त नहीं आता।

मित्रो! इस दुर्भावना से बचो। विचार करो कि आपके थोड़े स्वार्थ से सन्तान का जीवन किस प्रकार नष्ट हो रहा है? अपनी हवस पूरी करने के लिए ऐसे बालकों का विवाह मत करो जिन्हें विवाह का उद्देश्य ही मालूम नहीं है।

सन्तान उत्पन्न करके तुमने अपने सिर पर जो भारी उत्तरदायित्व अंगीकार किया है, उसका निर्वाह उनका विवाह करने से नहीं होता। ऐसा करके आप अपने उत्तरदायित्व को अधिक बढ़ाते हैं। अगर आप सन्तान के उत्तरदायित्व को निभाना चाहते हैं—अगर आप सन्ततिऋण से मुक्त होना चाहते हैं तो उन्हें सुशिक्षित बनाइए, वीर्यशाली बनाइए, जीवनोपयोगी अनेक विद्याओं का सम्यक्ज्ञान दीजिए। जो माता-पिता सन्तान को जन्म देता है पर उसे जीवन की क्षमता देने मे लापरवाही करता है वह अपने उत्तरदायित्व से मुकरता है और सन्तान के प्रति कृतघ्नता प्रदर्शित करता है।

माता-पिता का परम कर्त्तव्य तो यह है कि बालक या बालिका जब तक परिपक्व उम्र का न हो जाय तब तक संयममय वातावरण में रखने का प्रयत्न करें, वासना के दल-दल में

बचाते रहें और उसके चित्त में किसी तरह का विकार न आने देने के लिए स्वयं भी संयम और सदाचार का जीवन वितावें। पर आज क्या हो रहा है? 'नान्या, थारे वींदणी लावां? तू वींदणी ने कांई करेलो? काली लावाँ के गोरी लावां?' अफ़सोस! इस प्रकार की बातें करके अपना मनोरंजन करने वाले अज्ञान माता-पिता के लिए क्या कहा जाय? इससे बढ़ कर पतन का और क्या मार्ग हो सकता है? इस प्रकार की बातों से बालक के कोमल और कल्पनाशील मस्तिष्क पर जो ज़हरीला प्रभाव पड़ता है उससे बालक का शतमुखी पतन होता है। आगे जाकर यह कुसंस्कार उन्हे पतन के गड़हे में डालते हैं। बालक जब पतन की तरफ जाने लगता है तो माता-पिता को कुछ होश आता है और वे पश्चात्ताप करते हैं। मगर उस समय का पश्चात्ताप किस मतलब का? धक्का देकर कुएँ में अपने बालक को पटक कर रोने वाले की जो दशा हो सकती है वही ऐसे माता-पिता की होती है।

मित्रो! आप इस तथ्य पर शान्ति के साथ विचार करें। आपकी थोड़ी-सी भी भूल बालक के जीवन को अन्धकारपूर्ण बना सकती है। आप ऐसा कोई काम न करें जिससे आपकी सन्तान का अहित हो। सन्तान का जीवन आपके हाथ में है। कम से कम आप उसकी इतनी चिन्ता अवश्य करें, जितनी बागवान किसी बगीचे के पौधों की करता है। अधीरता को त्यागिये। मनोरंजन के लिए सन्तान के उज्ज्वल भविष्य पर काला पर्दा मत डालिए। उन्हें शक्तिशाली, सदाचारी, संयमी और सुयोग्य बनाने की चेष्टा कीजिए। बालविवाह की क्रूर प्रथा का अन्त कीजिए।

कन्याविक्रय

मित्रो ! प्राचीन काल में ऐसा कोई बदनसीब नहीं था जो कन्याविक्रय करता। पर आज एक ओर कन्याविक्रय होता है और दूसरी ओर वर विक्रय भी चल रहा है। कन्यादान के साथ स्त्रीधन के रूप धन देना दूसरी बात है, पर 'इतनी रकम देना स्वीकार हो मेरे लडके के साथ सगाई हो सकती है' इस प्रकार वर का मूल्य निर्धारित करना वरविक्रय नहीं तो क्या है ? इस प्रकार की समाज में फैली हुई कुरीतियों के कारण भयंकर परिणाम हो रहे हैं। सुना था—भुसावल के एक वृद्ध ने, कन्या की इच्छा के विरुद्ध, धन के बल पर उससे विवाह कर लिया। जाति ने भी इस कार्य में सहायता पहुँचाई। वृद्ध लक्षपति था। कुछ ही समय के पश्चात् उस लड़की ने वृद्ध के सामने ही ऐसे भयंकर पाप किये, जिनका वर्णन करने में लज्जा आती है। आप कह सकते हैं, लड़की महापापिनी थी, पर उस वृद्ध को क्या कहना चाहिए ? लड़की को पाप में प्रवृत्त करने वाला कौन था ? लड़की ने अपने आप को पतन के गर्त्त में डाल करके भी दूसरों की आँखें खोल दीं। पर जो लोग जानकर आँखें बन्द किए हैं, उनका क्या इलाज हो सकता है ? अगर वह वृद्ध विवाह करने का दुस्साहस न करता तो उस लड़की का पतन शायद ही होता।

भारत में पहले स्वयंवर की रीति प्रचलित थी। कन्या अपनी इच्छा के अनुसार वर का चुनाव कर सकती थी। माता-

पिता उसमें विशेष हस्तक्षेप नहीं करते थे। वे जानते थे—एक जीवन को दूसरे जीवन के साथ मिला देना कठिन काम है। अगर 'योग्यं योग्येन योजयेत्' के अनुसार उचित सम्बन्ध न हुआ तो परिणाम अत्यन्त अवाञ्छनीय होता है ।

बाद में यह काम माता-पिता ने अपने हाथ में लिया। उस समय यह परिवर्त्तन सकारण रहा होगा पर, आज तो इस परिवर्त्तन ने कुछ और ही रंग दिखाया है। अनेक बार तो ऐसा होता है कि ब्याह भी व्यापार बन जाता है।

श्रावको ! आपको यह बताने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि कन्याविक्रय और वरविक्रय श्रावकधर्म के विरुद्ध हैं। इससे धर्म, नीति और समाज की मर्यादा का खंडन होता ही है, साथ ही बेचे जाने पर वर और कन्या का जीवन भी सदा के लिए दुःखमय बन जाता है। अतएव इस कुप्रथा का अन्त करो, इसी में कल्याण है।

मृत्युभोज

मृत्युभोज मारवाड़ प्रान्त में 'मोसर' कहलाता है। 'मोसर' का भोजन महाराक्षसी भोजन है। वह गरीबों को अधिक गरीब बनाने वाला और धनवानों को दयाहीन बनाने वाला है।

आप मौत के उपलक्ष्य में किये जाने वाले भोज को खाने के लिए जिसके घर उत्साह के साथ जाते हैं, क्या कभी उसके घर की भीतरी हालत भी पूछी है ? क्या जातीय समवेदना की इतिश्री उसके घर भोजन कर आने में ही हो जाती है ?

आपकी इस कुरीति ने अनेक गरीबों का सत्यानाश कर डाला है। धनवान् लोगों को पैसे की कमी नहीं। वे इस प्रसंग पर पैसा लुटाते हैं और गरीबों पर ताने कसते हैं। बेचारे गरीब जाति में अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए धनवानों का अनुकरण करते हैं। जाति में धनवानों की प्रधानता होती है और उन्होंने प्रतिष्ठा की कसौटी इसी प्रकार की बना रक्खी है। पर याद रखना चाहिए, सच्चा जाति-हितैषी वह है जो अपने व्यवहार से गरीबों की प्रतिष्ठा बढ़ाता है, जो अपने गरीब जाति-भाइयों की सहूलियत देखकर स्वयं बर्त्ताव करता है, जो उनकी प्रतिष्ठा में ही अपनी प्रतिष्ठा मानता है। सच्चा जाति-हितैषी अपने बड़प्पन की रक्षा गरीबों के बड़प्पन की रक्षा करने में ही मानता है।

मित्रो ! जरा विचार करो—क्या एक दो दिन तक मृत्युभोज में जीमने से आप मोटे-ताजे हो जाएंगे ? अगर ऐसा नहीं

है तो 'मोसर' में खर्च होने वाला धन किसी धर्म-कार्य में, जाति-भाइयों में, खर्च करना क्या उचित नहीं है ? आपके अनेक जाति-भाई वृथा भटकते-फिरते हैं । उन्हें कहीं से कोई सहायता नहीं मिलती । अगर उनकी सहायता में आप कुछ व्यय करें तो क्या आपका धन व्यर्थ चला जायगा ? यदि 'मोसर' करने से नाम होता है तो क्या इससे नाम न होगा ?

कई भाई कहते हैं—जवान आदमी की मृत्यु होने पर मोसर नहीं जीमना चाहिए । बूढ़ों का जीमे तो कोई हानि नहीं है । इसका मतलब यह समझना चाहिए कि जवान नहीं मरने चाहिए, बूढ़े मरें तो अच्छा है ? लड्डू खाने के लिए कैसे-कैसे रास्ते निकाले जाते हैं ! 'मोदकप्रिय' लोग चाहते होंगे, कब बूढ़े मरें और कब मोदकों के आस्वादन का अवसर हाथ लगे !

मित्रो ! संसार की विषम-स्थिति की ओर दृष्टि डालो । जिसके घर आप मोसर जीमने जाते हैं उसके घर की, उसके बाल-बच्चों की और उसके घर की महिलाओ की स्थिति देखो तो मालूम होगा कि मोसर जीम कर कैसा राक्षसी कृत्य किया जा रहा है ।